स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में पौराणिक तत्व

(1947 - 1975)

Mythological Elements in the Post Independent Hindi Dramas

(1947 - 1975)

THESIS

SUBMITTED TO THE COCHIN UNIVERSITY OF
SCIENCE AND TECHNOLOGY FOR THE
DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

BY

SUDHARMA S.

Supervising Teacher
Dr. P. A. SHEMIM ALIYAR
Reader, Dept. of Hindi

Dr. N. RAMAN NAIR
Professor & Head of the Department

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN 682 022

1989

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by **SUDHARMA.S** under my supervision for P.hD (Doctor of Philosophy) and no part of this has hitherto been submitted for a Degree in any University.

Department of Hindi,

Cochin University of Science & Technology, Cochin-22.

23/10/89

(**Dr. P.A.SHEMIM ALIYAR**)

विषय - सूची

पृष्ठ संख्या

अपनी ओर से 3 - 4

अध्याय - 1. पुराण और पौराणिक साहित्य 5 - 35

पुराण की परिभाषा - पुराण की संख्या - पुराणों की महत्ता - काव्य - प्रियप्रवास, साकेत, पंचवटी, जयद्रथवध, वन वैभव, नहुष, हिडिम्बा, युद्ध, यज भारत, द्वापर, एकलव्य, उर्मिला, कामायनी, राम की शक्ति-पूजा, संशय की एक रात, उर्वशी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, सेनापति कर्ण, कर्ण, कनुप्रिया, द्रौपदी।
नाटक - मलयालम, कन्नड, तमिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी, बंगला, असमिया, हिन्दी।

अध्याय - 2. स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियाँ तथा पौराणिक नाटक 36 - 49

स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियाँ - धार्मिक परिस्थिति - विवेच्य युगीन नाटकों पर उसका प्रभाव - राजनीतिक परिस्थिति - विवेच्य युगीन नाटकों पर उसका प्रभाव।

अध्याय - 3. रामायण पर आधारित नाटक 50 - 101.

रामायण की महत्ता - अखण्ड नारीत्व का दस्तावेज, - अशोकवन बंदिनी, अनन्य प्रेम पर अड़िग नारी का आत्मोत्सर्ग : "भूमिजा" - नारी के आत्म सम्मान की एक झलक : "उर्मिला" - एकनिष्ठ भक्ति का उज्ज्वल प्रतिमान : "शबरी" - निवृत्ति और प्रवृत्ति की आपसी टक्कर: "पाषाणी" आहत नारीत्व की फूत्कार : "असुर सुन्दरी" - भ्रातृत्व की अनूठी मिसाल "चित्रकूट" - आर्य संस्कृति के जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा : "दशरथ नन्दन" - सात्विकता की अपराजेयता "तमसा"।

अध्याय - 4. महाभारत पर आधारित नाटक 102-167.

महाभारत की महत्ता - अदम्य साहस का संवाहक "चक्रव्यूह" - एक निडर व्यक्तित्व की पस्ती में झलकनेवाली अजेयता : "अपराजित" - अभिशप्त वर्ण-व्यवस्था का शिकार "कर्ण" - भग्न नारी हृदय का मौन स्वन "पाँचाली" - लोकरक्षक का यशोगान "मुक्त पुरुष" - अन्तरात्मा की पुकार "गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण" - प्रतिशोधी मन की क्रूरतम प्रतिक्रिया "अश्वत्थामा", - मुक्त पुरुष की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति "सूर्यमुख" - मूल्यहीनता पर एक प्रश्न चिह्न "अंधायुग"।

अध्याय - 5. पुराण पर आधारित नाटक 168-224

जनहंता राजनीति - "पहला राजा" - यथार्थ को झुठलानेवाली शासन-व्यवस्था "कलंकी" - भोगवादिनी कला की भर्त्सना "उर्वशी" - कामांधता का दर्दनाक पतन "नहुषनिपात" - भोग पर योग की विजय "मदन दहन" - कर्मठ पुरुषार्थ का स्तवन "गंगावतरण" - उधार ली हुई जवानी "ययाती" - युद्ध की अनिवार्यता पर एक बहस "एक कंठ विषपाई" - तरुण मन की चपलता "तारा"।

अध्याय - 6. पौराणिक तत्वों की व्याख्या युगीन संदर्भ में 225—248

पुराण और युद्ध - पुराण और राजनीति - पुराण और वर्ण व्यवस्था - पुराण और नैतिकता - पुराण और नारी चेतना §अ§ अनंत प्रेरणा की संवाहक नारी, §आ§ नारी की विध्वंसकारी हठ - पुराण और उदात्त जीवन दर्शन - पुराण और मिथ्याचरण की निन्दा।

अध्याय - 7. उपसंहार -(पौराणिक तत्वों की प्रासंगिकता। 249-251

संदर्भ ग्रन्थ सूची - 252-262

****

अपनी ओर से

धर्म, दर्शन और जीवन से जुड़े पौराणिक साहित्य किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर होते हैं। भारतीय वाङ्मय का अध्ययन पुराण साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा ही कहा जायेगा क्योंकि उसमें भारतीय संस्कृति और समाज के मूल तत्वों का विवेचन हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी साहित्य में पौराणिक तत्वों का गहरा प्रभाव है। प्राचीन काल से लेकर नाटककारों ने नाटक के लिए पुराण से विषय-वस्तु ग्रहण की हैं। प्राक् स्वातंत्र्य काल में पौराणिक इतिवृत्त पर लिखे गये नाटकों की एक लंबी धारा मिलती हैं जिनमें महत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय नाटक बहुत कम ही हैं। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद रचित पौराणिक नाटक परंपरा के आग्रहों से मुक्त होकर नवीन भूमिका में विकसित हुए हैं। स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने अतीत का वर्तमान से संबंध जोड़ते हुए भविष्य के लिए संदेश दिया है।

पौराणिक नाटकों पर अनुसंधान की दृष्टि से बहुत विरले ही शोधकार्य संपन्न हुए हैं जिनमें देवर्षि सनाढ्य का "हिन्दी के पौराणिक नाटक," शशिप्रभा शास्त्री का "हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत" उल्लेखनीय हैं। लेकिन देवर्षि सनाढ्य का शोध प्रबन्ध पौराणिक नाटकों के स्वरूप और विकास को ही प्रस्तुत करता है। लेकिन उन्होंने मात्र 1955 तक के नाटकों का विश्लेषण किया है। शशिप्रभा शास्त्री के शोध प्रबन्ध का विवेच्य विषय पौराणिक नाटकों का मूल-स्रोत है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है स्वातंत्र्योत्तर पौराणिक नाटकों की युगीन व्याख्या एवं पौराणिक तत्वों की प्रासंगिकता पर बल देकर कोई शोध कार्य संपन्न नहीं हुआ है। इसलिए मेरा विश्वास है कि यह शोध प्रबन्ध विषय और विवेचन की दृष्टि से सर्वथा अछूता और मौलिक है। अतः शोध की मूल प्रक्रिया स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त पौराणिक तत्वों की अपनी युगीन और शाश्वत संदर्भ में मार्मिक व्याख्या है। इसके लिए मैं ने उन्नीस सौ सैंतालीस से उन्नीस सौ पचहत्तर तक के प्रतिनिधि नाटककारों की रचनाएँ चुन ली हैं।

यह शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में पुराण और पौराणिक साहित्य का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर भारत की धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ नाटकों पर उसके प्रभाव पर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय रामायण पर आधारित हिन्दी नाटकों का विशद विश्लेषण है। चौथा अध्याय महाभारत पर आधारित नाटकों की पहचान और परख है। पाँचवाँ अध्याय पुराण पर आधारित हिन्दी नाटकों की विवेचना है। छठा अध्याय पौराणिक नाटकों की युगीन अभिव्यक्ति का विवेचन और मूल्यांकन है। इसमें पौराणिक प्रसंगों तथा पात्रों के ज़रिए युगीन समस्याओं की व्याख्या को स्थापित किया है। सातवाँ अध्याय शोध प्रबंध के उपसंहार से संबद्ध है। इस अध्याय में पौराणिक तत्वों की प्रासंगिकता पर विहंगम दृष्टि डाली गयी है।

यह शोध प्रबंध इस विभाग की रीडर डॉ. पी. ए. शमीम अलियार के विद्वत्तापूर्ण निर्देश में संपन्न हुआ है। विषय चुनाव से लेकर इसकी प्रस्तुति तक उनके उपदेश तथा स्नेहमय व्यवहार से मुझे प्रोत्साहन मिला है। इसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ।

मुझे इस विभाग के अध्यक्ष प्रोफसर. डॉ. एन. रामन नायर से समय-समय पर निर्देश एवं प्रोत्साहन मिला है। उनके प्रति भी मैं आभारी हूँ।

इस विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती. कुंजिक्कावुट्टी - तम्पुरान के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

कोचिन विश्वविद्यालय के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूँ क्योंकि उन्होंने छात्र-वृत्ति देकर मुझे आर्थिक संकट से बचाया।

सुधर्मा. एस.

हिन्दी विभाग,
कोचिन विज्ञान व प्राद्यौगिकी-
विश्वविद्यालय,
कोचिन - 22.

****

अध्याय - 1

पुराण और पौराणिक साहित्य

अध्याय - 1

पुराण और पौराणिक साहित्य

पुराण की परिभाषा :-

"पुराण" भारतीय संस्कृति तथा अनन्तकालीन साहित्य का अक्षय भण्डार है। वेद, उपनिषद् आदि में प्रतिपादित कथाओं के अंश इसमें समा गये हैं।

"पुराण" शब्द का साधारण अर्थ है पुराना। कोषकारों ने केवल इसके साधारण अर्थ को अपनाया है। पद्मकोष ने पुराण को "पुराणम पुरा-भवम्"[1] तथा अमरकोष ने इसे "पुराणे प्रतनप्रत्नपुरातन चिरन्तना:"[2] कहकर इसका अर्थ पुराना पर ही सीमित रखा है। लेकिन इसका अर्थ मात्र पुराने तक न सीमित रहता है। ब्रह्माण्ड पुराण में ऐसी व्याख्या मिलती है कि जो ग्रन्थ ज्ञान का प्रकाश देता है, वह पुराण है -

"यस्मात्पुराह्य नवतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।"[3]

इनसे यह व्यक्त होता है कि परंपरागत गाथा के कथनों द्वारा एक विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करना भी पुराण का कर्तव्य है।

निरुक्तकार यास्क ने "पुराण" शब्द की व्याख्या - "पुराणं कस्मात् पुरानवं भवति" - की है।[4] अर्थात् जिसमें पुराना नया हो जाये वही "पुराण" है। अमरकोष की व्याख्या - "पुराभवम् यद्वा पुरा अपिनवं यद्वा पुरा अतीतानागतौ अर्थौ अणति"[5] - यह व्यक्त करती है कि जो पहले हुआ अथवा पहले

---

1. गणेश दत्त शास्त्री - "पद्मकोष" - पृ:320
2. "अमरकोष" - भानुदीक्षित व्याख्या - तृतीय खंड, श्लोक 76
3. ब्रह्माण्ड पुराण 1/1/173
4. "निरुक्त" - 3/19/24
5. "अमरकोष" - तृतीय खंड, श्लोक - 65

होकर भी नया[1] अथवा पहले ही भूत और भविष्य के अर्थों[1] को कहनेवाला है, वह पुराण है। पद्मपुराण की व्याख्या - "पुरा परंपरां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्"[2] से भी यही अर्थ व्यक्त होता है।

आज पुराण से एक विशेष साहित्य का बोध होता है। पुराण लेखकों ने आध्यात्मिक रहस्यों को जन साधारण तक पहुँचने के लिए भौतिक ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं तथा कथाओं का सहारा लिया है।[3]

अधिकांश पुराणों का निर्माण वेदों से ही पहले हुआ है।[4] "पुराण" शब्द का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[5]

---

1. 'The term 'Purana' means that which lives from the old' (Vayu Purana') - 1/202) or that which is always new though it is old - (Sankaracharya's Commentary on Bhagavat Geetha-II, 20) 'The Cultural Heritage of India'-S.C.Banerji-Vol.V.
2. पद्मपुराण 1/2/53
3. 'These works have shown the people the earliest way of attaining peace and perfection in life and have put forth often in the forms of myths and stories' -'The Cultural Heritage of India' - Vol.II, Ed. Sunithkumar Chatterji, P.268.
4. अ. "पुराणं सर्व शास्त्राणाँ प्रथमं ब्रह्मणां स्मृतम्
   अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृता।" -
   मत्स्य पुराण, अध्याय-53, श्लोक 3

   आ. 'The Pouranic tradition can rightly claim a much earlier beginning than the Vedas'. - 'The Cultural Heritage of India' - Vol.II, P.241.

5. 'The Atharva Veda contains the earliest mention of the word 'Purana'" - 'The Cultural Heritage of India', Vol.II, P-241.

"शतपथ ब्रह्मण" में पुराण को वेद का समकक्ष बताया गया है[1] तथा उसके नित्य पाठ का निदान किया गया है। "छन्दोग्य"[2] में भी पुराण का आदरपूर्वक उल्लेख है। "बृहदारण्यक"[3] में वेद के साथ ही पुराणों का किसी महतत्व से निसृत होना बताया गया है। पुराण की कथाओं का वेदों में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार वैदिक काल और उससे पहले तथा बाद की ऐतिहासिक, धार्मिक और अन्य गाथाओं और इनके साथ ज्ञान को भी मिलाकर जन-साधारण के लिए कथा आख्यानों के रूप में बनाया गया साहित्य है "पुराण"।[4] दिवान बहादुर के. एस. रामेश्वर शास्त्रीजी ने "पुराण" को हिन्दू साहित्य की एक महत्व-पूर्ण शाखा मानते हुए उनकी महानता पर प्रकाश डाला है।[5]

अंग्रेज़ी भाषा में "पुराण" शब्द का बोध माइथालजी (Methology शब्द से होता है। इस शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द "Muthos" अथवा "Mythus' से बतायी जाती है।[6] अंग्रेज़ी में इसका समानार्थक शब्द है "Myth"। प्रारंभ में

---

1. "शतपथ ब्राह्मण" - 13/4/3/12-13 तथा 11/5/6/8.
2. "छन्दोग्य" - 3/4/1
3. अ. "बृहदारण्यक" - 214/10

   आ. "The Brahadaranyka Upanishad ascribes the origin of the four Vedas, Itihasa, Purana etc. to the breath of Mahabuta (the Great Being, Paramatman - the Supreme Soul)" 'The Cultural Heritage of India'. Vol-2, P.241.
4. "विश्व विज्ञान कोश" (मलयालम)
5. "The Puranas are very important branches of Hindu Sacred Literature. They enable us to know the true aspect of the ethos, Philosophy and religion of the Vedas. They cloth with flesh and blood the bony frame work of Dharma, Sutras and Shastras". - 'The Cultural Heritage of India', Vol.V.P.64
6. 'The new Popular Encyclopedia' - Charles Anadal (ed) Vol. V, P-401.

इसे अलौकिक शक्ति से जोड़ा है। लेकिन कालान्तर में अर्थ विकास हो जाने के कारण यह काव्य के अन्य अनेक तत्वों का वाहक बन गया है। आज मिथक के समकक्ष पुराण कथा, कल्प कथा, पुरावृत्त, पुराख्यान आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं, किन्तु ये सभी इसके अलौकिक या दैविक पक्ष को ही ध्वनित करते हैं।[1]

It is used in the study of religion and culture the subject of which are accounts about Gods of Supreme beings and extra ordinary events or circumstances in a time that is altogether different fro ordinary human experience. It is a collective term used for one ki of symbolic communication specially indicates one basic form of religious symbolism as distingushed from symbolic behaviour and symbolic places and objects[1].

मिथक सत्य पर आधारित है। वह पवित्र है साथ ही मूल्यवान भी। मिरसिया इलियद ने अपने पुस्तक "मिथ एण्ड रियालिटी" (Myth and Reality) में यह व्यक्त किया है कि मिथ एक वास्तविक तथ्य है, इससे परे यह कथा एक बहुमूल्य अमानत है, क्योंकि यह पवित्र, उदात्त और दिव्य भी।[3]

"एनसाइक्लोपीड़िया सोशल साइन्स" (Encyclopedia Social Science) में मिथक को लोक साहित्य के समान ही जातीय आकांक्षाओं का माध्यम कहा है। इस प्रकार स्वत: ही मिथक में धार्मिक तत्व का समावेश आ जाता है। "एनसाइक्लोपीड़िया ब्रिटानिका" (Encyclopedia Britanica) में इसके प्रमुख चार तत्वों पर बल देते हैं कि मिथक आदिम संस्कृति के विश्वास,

---

1. "भाषा" - त्रैमासिक - सितंबर - 1980

2. Encyclopedia Britanica, Vol. VII, P.154.

3 "Myth means a 'true story' and beyond that a story that is most precious possession because it is sacred, exemplary significant" - Mircea Eliade. 'Myth and Reality', P.1.

आस्था का दर्पण, सदाचार, नैतिकता का प्रेरक, धार्मिक अनुष्ठानों की सफलता का व्यंजन तथा यथार्थ और सत्य की प्रस्तोता है।[1]

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि पुराण वेद-उपनिषदों के सूक्ष्म ज्ञान को कथा आख्यानों तथा दृष्टान्तों के द्वारा व्यक्त करनेवाला साहित्य है। पुराणों में सत्य, त्याग, कर्तव्य एवं विभिन्न प्रकार की भावनिष्ठाओं के संबंध में जिन सुचरितों का वर्णन है, उनके द्वारा पाठक भावपूरित हो उठता है और सार-युक्त उपदेशों को व्यावहारिक जीवन में ढालने की प्रेरणा उसे निश्चित ही प्राप्त हो जाती है।[2]

<u>पुराणों की संख्या</u> :-

पुराणों की संख्या अठारह मानी गयी है। इन अठारह पुराणों के अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी विद्यमान हैं। स्कन्द पुराण में इसके मूलतः दो भेद होने की व्याख्या मिलती है - महापुराण और लघु या उपपुराण -

"एवं लक्षण लक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः।
मनयोऽष्टादशा प्राहु क्षुल्लकानि महान्ति च।।"

महापुराणों की संख्या अठारह हैं। वे ये हैं -

।§ ब्रह्म पुराण, §2§ पद्म पुराण, §3§ वायु पुराण, §4§विष्णु पुराण 5§ भागवत् पुराण, §6§ नारदीय पुराण, §7§ मार्कण्डेय पुराण, §8§ अग्नि - पुराण, §9§ भविष्य पुराण, §।0§ ब्रह्म वैवर्त पुराण, §।।§ लिंग पुराण, §।2§ वराह पुराण, §।3§ स्कन्द पुराण, §।4§ वामन पुराण, §।5§कर्म पुराण, §।6§ मत्स्य पुराण, §।7§ गरुड पुराण, §।8§ ब्रह्माण्ड पुराण

---

1. Encyclopedia Britanica, Vol. VII, P.184.
2. शशिप्रभा शास्त्री "हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत" - पृ:4

पुराण का महत्व :-

ऐतिहासिक दृष्टि से पुराण अमूल्य निधि है। भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से पुराणों का बड़ा महत्व है। प्राचीन भारतीय संस्कृति, धार्मिक दृष्टि,[1] चरित्र की उदात्तता आदि पुराण गाथाओं में समा गयी है। पुराणों में वर्णित सत्य, त्याग, कर्तव्य एवं विभिन्न प्रकार की भाव-निष्ठाएँ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में निश्चय ही प्रेरणा प्रदान करनेवाली हैं। कुण्ठाग्रस्त, धर्मच्युत मानव को युगबोध से परिचित कराने में भी पुराण आख्यानों का महत्वपूर्ण स्थान है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि पुराण अतीत गौरव-गान के साथ वर्तमान में सुख शान्ति का संदेश देते हैं। उनका विषय प्राचीन है तो भी उनकी समस्याएँ तथा उनके समाधान नित नूतन और चिरन्तन सत्य है।[2] "पुरा

---

1. "The Principal Puranas which are eighteen in number, has excercised great influence in moulding the religions opinion as well as the mode of life of the Common People".
'A critical study of Bhagavat Purana'. Dr.T.S.Rukmini. P.3.

2. अ. 'The Puranas have been respectfully studied for centuries and upstill read by the people of the country because these works have shown them easiest wayof attaining peace and perfection in life, showed easy solution of those difficult problems with whcih one is sure to be confronted in one's religious and social life. As a matter of fact the Puranas have rentered a great service in affecting the racial and religious unification of the diverse people of India'.-
'The Cultural Heritage of India' - Vol.II, P.268.

आ. डॉ. रामाश्रय रत्नेश "हिन्दी नाटकों में नैतिक चेतना का विकास" - पृ:138

अतीतानागतौ अर्थौ अणति:"[1] से यह व्यक्त होता है कि पुराण में हमें भूत और भविष्य के अर्थों का स्पष्टीकरण मिलता है।

पुराण न केवल धार्मिक नैतिक चेतनाओं का बोध दिलाता है, इतिहास का भी ज्ञान प्रदान करते हैं। ये भारतीय इतिहास के अमरकोश है। महाभारत में भी "इतिहास पुराणाभ्यो वेदं समुपबृ हयेत्"[2] कहकर इतिहास और पुराण का साथ-साथ स्मरण किया गया है। पुराणों के लक्षणों की जो व्याख्या मिलती है, वह भी पुराण और इतिहास के संबंध को स्पष्ट करती है -

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितम् चैव पुराणं पंचलक्षणम्।।"[3]

किसी भी देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसके गहनतम रहस्य की सीमा तक पहुँचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही उसकी सबसे अच्छी कुंजी है। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें जीवन की बहुरूपता, प्रस्फुटित हुई है।[4] डॉ. नामवरसिंह ने लिखा है - "किसी जाति की सांस्कृतिक परंपरा जिन वस्तुओं से, जिन तत्वों से समृद्ध होती है उनमें पुराकथा एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करती है। वह जाति दरिद्र होगी जिसके पास पुराकथा नहीं होगी। यदि पुराकथा नहीं है तो पुराकथाओं के आधार पर निर्मित होनेवाले वाद्य, नृत्य नहीं होंगे, नाट्य नहीं होगा, महाकाव्य नहीं होगा, मूर्तियाँ नहीं होंगी, संगीत नहीं होगा, जाति दरिद्र होगी।[5] विश्वंभर नाथ उपाध्याय ने भी पुराण की महत्ता पर प्रकाश डाला है। उनकी राय में जो देश पुराकथाओं की दृष्टि से

---

1. अमरकोष तृतीय खंड, श्लोक - 65
2. महाभारत आदि पर्व, अध्याय - 5
3. मत्स्य पुराण दो शब्द, पृ:ड.
4. अज्ञेय "त्रिशंकु" - पृ:49
5. डॉ. उषाकुमारी विद्या वाचस्पति (सं) - "मिथक साहित्य विविध संदर्भ" पृ:

जितना ही अधिक समृद्ध है वह उतने ही उच्चकोटि के और साथ ही संप्रेक्षण युक्त साहित्य की सृष्टि कर सकता है।[1]

जिस जाति के जीवन में उसकी पौराणिकता मिट गयी, पुराने विश्वास धुँधले पड़ गये, जीवन के परंपरागत मानदण्ड बिखर गये उस जाति की समूची संस्कृति का अंत हो गया है। दूसरी ओर लोक जीवन में साहित्य और कला के नये रूपों में जो जाति अपने पौराणिक आधार को संवारती चली, उसकी संस्कृति के विकास का क्रम नहीं टूटा। प्राचीन यूनान और मिस्र के लेखकों की पौराणिक परंपरा का मिटना यूनानी संस्कृति का अंत बना। मार्क्स ने ग्रीक कला का जिक्र करते हुए लिखा है कि ग्रीक पुराकथा - "माइथोलजी" - के बिना ग्रीक कला और ग्रीक एपिक्स एवं ट्रैजडी की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यदि ग्रीक माइथोलजी को हटा दो तो कहाँ इलियट बचता है, कहाँ ओडीसी बचती है, कहाँ सारी की सारी अपोलो वीनस के नाम पर बनी मूर्तियाँ बचती हैं, कहाँ सोफोक्लीस के नाटक बचते हैं, संपूर्ण संस्कृति एक माइथोलजी को हटा देने से ध्वस्त हो जाती है।[2]

पुराण आख्यानों का और एक पहलू है। वह यह है कि इसमें देश प्रेम की झलक मिलती है, साथ ही साथ देश में भावात्मक एकता लाने में धार्मिक सहिष्णुता पैदा करने में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।[3]

भारतीय संस्कृति का अमर संदेश[4] विशिष्ट रूप से पुराणों में सुरक्षित है। हमारी गौरव-गाथा के अनन्तकालीन इतिहास का अक्षय भण्डार

---

1. वातायन - 1966-67, अप्रैल
2. Carl Marx: 'Gurndriesse', P.92.
3. "It is the Purana which is brought about unity in diversity and taught religious toleration to the followers of different faiths by making them realise that God is one though called by different names". - 'The Cultural Heritage of India' - Vol. V, P.268.
4. "It is to be observed that the Puranas contain in themselves the highest spiritual and philosophical truths". - 'The Foundation of Indian Culture': Sri.Aurobindo, P.329.

पुराणों की एक एक कथा के मूल में स्थित है। हमारी सांस्कृतिक चेतना का जीता जागता चित्र देखने के लिए हमें पुराणों की चित्रशाला में जाना होगा जहाँ दधीची और शिव का उपकार, महाराज युधिष्ठिर और हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा, सीता, सावित्री, दमयंती आदि का सतीत्व और पतिव्रत धर्मपरायणता आज भूले हुए मानव को संश्लिष्ट करती है। पुराण की और एक विशेषता यह है कि राजनीतिक इतिहास के निर्माण में भी यह सहायता देता है। श्री. रघुवीर कुमार गुप्त ने इस विशिष्टता की ओर संकेत करते हुए लिखा है - "पुराणों का महत्व विशेष रूप से भारतीय समाज के शासक वर्ग की संस्कृति और सभ्यता के साथ राजनीतिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना भी है।[1] श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी की राय में पुराण की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि पुराण अतीत गौरव के गान के साथ वर्तमान में सुख शांति का वरदान देकर भविष्य के लिए मुक्ति का सन्देश देते हैं।[2]

पुराण की महत्ता बहुआयामी है। भारतीय पुराणों का जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, वह कम महत्व का नहीं। वायु पुराण की भूमिका में इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर काफी प्रकाश डाला गया है - "अग्नि और जल द्वारा भाप का इंजन बनाकर रेल चलाना निःसन्देह बुद्धिमत्ता का प्रमाण है, पर जिन मनुष्यों ने दावानल के भयंकर अग्निकुण्ड में से थोड़ी अग्नि लेकर गृहोपयोगी रूप में प्रयोग किया है, वह भी कम प्रशंसा के पात्र नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान युग में अणु बम एक युग परिवर्तनकारी आविष्कार है पर जिन भारतीय मनीषियों ने कई हज़ार वर्ष पहले यह घोषित कर दिया था कि संसार के प्रत्येक पदार्थ का अंतिम कारण परमाणु है और वही सृष्टि प्रक्रिया का मूल आधार है। वे ही परमाणु विज्ञान के आदि पुरुष माने गये हैं। पुराण के रचयिता अपनी तर्क बुद्धि और योग शक्ति (एकाग्रता और ध्यान) से सृष्टि मूल रहस्यों को अधिकांश में समझ सके थे।[3]

---

1. श्री. रघुवीर कुमार गुप्त - "संस्कृत साहित्य के सुबोध इतिहास" - पृ:॥
2. श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी - "पुराण तत्व मीमांसा" - पृ:13
3. वायु पुराण - खण्ड - 1, भूमिका - पृ:26

एक प्रसिद्ध इटालियन वैज्ञानिक डॉ. पिनोट्टी ने अनेक वर्षों के अपने शोध के आधार पर यह बताया है कि पुराणों में विमानों का जो विवरण मिलता है वह मिथ नहीं सत्य पर आधारित है।[1] पौराणिक गाथाओं के वैज्ञानिक पक्ष को साबित करने के लिए डॉ. उषापुरी विद्या वाचस्पति ने कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और यों प्रश्न भी उठाया है - सौ कौरव, उनकी एक बहन, "देवी भागवत" और "महाभारत" में उल्लिखित उपचरि की संतानें, मत्स्य और मत्स्यगंधा, कुम्भज अगस्त्य मुनि आदि के रूप में टैस्ट्यूब बेबीज़ ही तो नहीं थे? ऋग्वेद के एक संदर्भ[2] को भी लेखिका ने प्रस्तुत किया है। अप्पाला को श्वेत कुष्ट हो गया तो उसे पति कुशाश्व ने उसका परित्याग कर दिया। वह अपने पिता ऋषि अत्रि के पास चली गयी। अप्पाला की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसके शरीर की चमडी तीन बार उतार कर उसे रोग-मुक्त कर दिया। यह क्या आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी का ही रूप नहीं था?[3] यों भारतीय पुराणों में जो कथाएँ मिलती हैं, वे कपोल कल्पित नहीं उनका एक ठोस वैज्ञानिक आधार है।

पुराण के समान भारतीय जन-मानस को अन्य दो महान ग्रन्थों ने भी बहुत प्रभावित किया है। वे हैं रामायण और महाभारत। इन दोनों ग्रंथों में भारत की विराट आध्यात्मिक चेतना को अभिव्यक्ति दी गयी है। संसार भर के विद्वानों ने इन दोनों महाकाव्यों की भूरी-भूरी प्रशंसा की है।[4] यहाँ तक कि

---

1. "Indian Gods andHeroes fought in skies using pilotical vehicles with terrible weapons. These descriptions are similar to jet propelled flying machines.....Ancient flying devices of India were made from special heat absorbing metals named Somaka, Soundalika and Mourthwika". - Indian Express (daily), Oct'13,198
2. ऋग्वेद - मण्डल - 8, सूक्त - 9, मंत्र - 9।
3. "मिथक साहित्य विविध संदर्भ" - पृ:4
4. अ. "Ramayana and Mahabharata are considered as the model and source of all later literary creations". - Monier Williams: 'Indian Epic Poetry', P.12.

   आ "Ramayana is indeed a marvellous piece of art which an Indian can legitimately be proud of. In all range of Sanskri literature there are very few poems more charming than this one by the Adi Kavi" - 'The Cultural Heritage of India'- Vol. V, P.51.

महाभारत को दुनिया का सबसे बड़ा महाकाव्य घोषित किया है।[1] श्री. अरविन्द ने इन दोनों महाकाव्यों को दुनिया की किसी भी भाषा के महाकाव्यों से श्रेष्ठ बताया है।[2]

प्रसिद्ध फ्रेंच इतिहासकार मैखेले रामायण से कहाँ तक प्रभावित हुए थे, इसका स्पष्ट विवरण पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपने ग्रन्थ "भारत की खोज" में दिया है। मैखेले ने रामायण की तुलना प्रेम रूपी ऐसे एक महासागर से की है जिसकी कोई तह नहीं।[3] पुराण, रामायण और महाभारत भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को अनन्त प्रेरणा देते रहे हैं।

---

1. "The two epic furnish plenty of valuable information about the Social and Cultural organisation and the political institution of the epic age. They are the finest pieces of Indian Literature. Mahabharata is considered as the biggest of worlds epic". - 'Evolution of Indian Culture' - B.N.Luniya, P.84.

2. "As rich in freshness of life but immeasurably more profound and evolved in thought and substance than the Greek, as advanced in maturity of culture but more vigourous, vital and young in strength than the Latin Epic Poetry. These two Indian Epic Poems were factioned to serve a greater and completer national and cultural function and that they have been receive and absorbed by both the high and the low, the cultured and the masses and remained through twenty centuries and intemate and formative part of teh life of the whole nation is of itself the strongest possible evidence of the greatness and fineness of this ancient Indian Culture". -

   'The foundation of Indian Culture' - P.308.

3. "Michelet, the French historian, writing in 1864, with special reference to the Ramayana, says: 'whoever has done or willed too much let him drink from this deep cup a long draught of life and youth.....everything is narrow in the

West - Greece is small and I stifle; Judea is try and I pant. Let me look towards lifty Asia and the profound East for a little while. There lies my great poem, as vast as the Indian Ocean, blessed, glided with teh Sun, the book of devine· harmony where in is no dissonance.A serene peace reigns there, and in the midest of conflict an infinite sweetness, a boundless fraternity, which spreads over all living things, an ocean (wihtout bottom or bound) of love of pity of clemency" - 'The Discovery of India' -

Jawaharlal Nehru. P.109.

पुराण और साहित्य :-

वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के लिए पुराण को माध्यम बनाया है। विश्व की अनेक सुसंस्कृत भाषाओं में पौराणिक साहित्य के दर्शन होते हैं। पुराकथाओं से प्रेरणा ग्रहण कर कवियों ने जातीय गौरव और संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाले महाकाव्यों की रचना की है, नाटककारों ने कई नाटकों का सृजन किया है। विश्व साहित्य के सृजन की प्रेरणा शक्ति एवं आधार सामग्री के रूप में पौराणिक गाथा की भूमिका सर्वविदित है। ग्रीक में होमर रचित महाकाव्य "इलियड" और "ओडीसी", सोफोक्लीस रचित त्रासदी "एन्टिगनी", एरिस्टोफिनिस की कामदी "द क्लाउड्स", एसीक्लीस के छः नाटक आदि का आधार ग्रीक और रोमन मिथक है।[1] सुमेरी साहित्य का महाकाव्य "गिलमेश" विश्व साहित्य का प्राचीनतम वीर महाकाव्य है। इसमें उस जलप्लावन की कहानी है जिसका उल्लेख प्रायः सारी सभ्यताओं के साहित्य में मिलता है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसका अनुवाद "हित्ती", "सुबरी" आदि भाषाओं में हुए और ग्रीक पुराणों पर भी इसका प्रभाव पड़ा।[2] अक्कीदी साहित्य में भी अनेक पौराणिक आख्यानों का वर्णन मिलता है जिनमें प्रमुख है "एनुमा एलिश"।[3] लैटिन साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ वेर्जिल के "एइनिड" का आधार वहाँ का मिथक है।[4]

अंग्रेज़ी साहित्य में विश्व प्रसिद्ध कवि जॉन मिल्टन का "पैराडाइज़ लोस्ट" (Paradise Lost), "कोमस" (Comus), "लाइसिड्स" (Lycids), जेम्स जोयस (James Joyce) का उपन्यास "युलिसीज़" और

---

1. i. 'Dictionary of Classical Mythology'-J.E.Zimmerman, P.xii.
   ii. भगवत शरण उपाध्याय - "विश्व साहित्य की रूपरेखा" - पृ:191, 197
   iii. 'World Drama': (Ed) John Gassmer and Edward Quinn, P.28.
2. "विश्व साहित्य की रूपरेखा" - पृ:136
3. वही - पृ:137
4. 'Dictionary of Classical Mythology' - P.xii.

टेनिसन की कविताएँ "आँफियन" (Amphian), "द डेथ आँफ ओनीम" (The Death of Oeneone), "द लोटेस ईटिर्स" (The Lotus Eaters), "हीरो टु लियेन्डर" (Hero to Leander), जॉन कीट्स की लम्बी कविता "एन्डीमियन" (Endymian), "हैम्न टु एपोलो" " Hymn to Appolo), "हाइपीरियन" (Hyperia "ऑन ए पिक्चर आँफ लियान्डर" (On a Picture of Leander), "ओड टु - माइया" (Ode to Maia), शेलो की गेय नाटिका प्रोमेथियूस अनबाउण्ड" (Prometheus Unbond), "हैम्न टु मेरकुरी" (Hymn to Mercury) आदि का आधार मिथक है।

जे. ई. जिम्मरमान की राय में मिथक या पुराकथा के ज्ञान के बिना अंग्रेज़ी साहित्य और अन्य अनेक भाषाओं का साहित्य अबोधगम्य बनता है। पुराकथाओं ने चित्रकला, मूर्तिकला दस्तकारी, खगोल विज्ञान और संगीत के लिए विषय वस्तु और प्रेरणा प्रदान की है। मिथक या पुराकथा की महत्ता पर ज़ोर देते हुए उन्होंने लिखा है कि सदियों से, लब्धप्रतिष्ठ महान लेखकों एवं नव लेखकों ने पुराकथा या मिथक से विषय वस्तु अपनी रचनाओं के लिए ग्रहण की है और समसामयिक समस्याओं की अभिव्यक्ति देने के लिए मनोवैज्ञानिक धरातल पर उसका उपयोग किया है।[1]

ग्रीकों ने अपने साहित्य के लिए ही नहीं मूर्तिकला और चित्र-कला के लिए भी मिथक को सबसे मुख्य आधार बनाया। रोम की जनता के पास मिथक के तत्व अल्पमात्र में थे। इसलिए उन्होंने ग्रीक पुराणों का उपयोग किया है।

---

1. "Without a knowledge of mythology a good deal of English Literature and that of other languages remain in comprehensible Mythology has also furnished inspiration and subject matter for paining, sculpture, designs, crafts, astronomy and music.....A knowledge of classical Mythology is indispensable in understanding and appreciating much of the great literature sculpture and poetry of both the ancients and moderns. Through centuries from Chaycer, Spencer, Shakespear and Milton not only the major works but also hundreds of lesser workers have retold the old tales or used them as a point of departure. For new interpretation in terms of contemporary problems and phychology" - Dictionary of Classical Mythology. P.VII

ग्रीक पुराणों के नाम बदल दिये जैसे सीयूस के लिए जूपिटर, हेरा के लिए जूनो अथना के लिए मिनर्वा अपहोडैट के लिए वीनस आदि।[1] एक अंग्रेज़ी शोधार्थी एच. ए. ग्यूवरबर (H.A.Guerber) ने मिथक की महत्ता की ओर संकेत देते हुए लिखा है कि आज के युग में मिथक को जितना महत्व दिया जा रहा है उतना पूर्ववर्ती युग में नहीं दिया जा रहा था।[2] विद्मान की राय में मिथक महान है।[3] जॉन कीट्स को सारे मिथक कण्ठस्थ मालूम था और होमर की रचनाओं का अनुवाद पढ़ने के बाद उन्होंने कहा, दरअसल मैं ने कई राज्यों का सैर किया है।[4]

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी प्राचीन कृतियों के प्रति लोगों का आकर्षण कभी घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही रहता है। अमेरिका में "इलियड" "ओडीसी" आदि प्राचीन कृतियों का नाट्य रूपांतर अभिनय शालाओं में जनप्रिय

---

1. "The Greeks based their literature as well as their sculpture and painting more or mythology than on any other source and the Romans having little mythology of their own, used the materials from Greece and changed the names to Roman from such as Zeus to Jupiter, Hera to Juno, Athena to Minerva, Aphrondite to Venus etc."
   'Directionary of Classical -Mythology'.P.VIII

2. "The importance of classical mythology from an educational stand point has never been more gnerally recognized than it is today". - 'Dictionary of Classical Mythology'.P.VIII

3. "Great are myth". - 'Dictionary of Classical-Mythology'. - P.VIII.

4. Much have I travelled in the realms of gold and many goodly states and Kingdoms Seen". -
   Dictionary of Classical Mythology'.P.VIII.

बन रहा है। बूकलिन कॉलिज अमेरिका के प्रसिद्ध सौन्दर्य शास्त्र और कला विभाग के प्रोफेसर लारेंस डब्ल्यू हारमैन (Lawrance W.Hyrman) भौतिक सत्य से दूर रहनेवाली इन प्राचीन कृतियों की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं - शताब्दियों तक आलोचना के प्रबल प्रहार सहने पर भी जो पुरातन कृतियाँ अक्षय वट के समान मान्य बनी है, उनमें कोई-न-कोई असाधारण शक्ति होगी। उनमें महापुराणों का ऐसा प्रगाढ अनुभव अभिव्यक्ति है जिसका विश्लेषण भौतिक सत्य और सामान्य बुद्धि की परिधि के अन्दर समा सकता ही नहीं। प्रत्येक युग का साहसी लौहपुरुष उस पारसी मणि का निर्लिप्त निर्विकार भाव से अपने स्वरूप में स्थित रहता है। "इलियड", "ओडीसी", "रामायण", "महाभारत" आदि में जीवन के प्रत्येक अंग के पहलू को परिपुष्ट करने की क्षमता है।[1]

ज़ाहिर है कि विश्व की अनेक सुसंस्कृत भाषाओं में पौराणिक साहित्य का सृजन हुआ है, आज भी हो रहा है। फिरोना मैक्लियोद की राय में "पुराण गाथाएँ चाहे हम उन्हें ग्रीक कहे, अथवा आर्य या और कुछ उस घास के समान है, जो प्रत्येक भूमि पर उगती है।[2]

भारतीय साहित्य और संस्कृति पौराणिक संदर्भों से इतनी अधिक आच्छन्न है कि उसका अध्ययन इन पौराणिक आख्यानों की समझ के बिना संभव ही नहीं है।

संस्कृत साहित्य की प्रायः सभी रचनाएँ पुराण, महाभारत और रामायण के आधार पर है। इनमें भास के "प्रतिमा", "अभिषेक", "मध्यम व्यायोग", "उरुभंग", "पंचरात्र", "बालचरित", कालिदास कृत "रघुवंश", "कुमार संभवम्" "विक्रमोर्वशीयम्", "अभिज्ञान शाकुन्तलम", "बृहत्त्रयी", भारवी कृत "किरातार्जुनीयम्", माघ

---

1. "They are great because the experience they depict are too deep and too complex to be reduced to meaning and truth".- 'The Journal of Aesthetic and Art Criticism' - P.157.

(दशरथ ओझा - "आजकल का हिन्दी नाटक:प्रगति और प्रभाव" - पृ:52 से उद्धृत)

2. देवीशंकर अवस्थी - "आलोचना और आलोचना" पृ:146 से उद्धृत

का "शिशुपाल वध," श्रीहर्ष का "नैषधीय चरित", भवभूति के "महावीर चरित", "उत्तर रामचरित", मुरारि का "अनर्घ राघव", राजेश्वर का "बाल रामायण" आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं में रचित रामकाव्य भी रामायण की प्रेरणा से ओतप्रोत है। प्राकृत के "स्वयंभू", तमिल के कम्पन, तेलुगु के गोनबुद्ध, कन्नड के कुमार वाल्मीकि, मलयालम के एषुत्तच्छन, असमिया के माधव कंदली, बंगला के कृतिवास, उड़िया के बलरामदास, मराठी के एकनाथ, गुजराती के गिरिधर इत्यादि का वाल्मीकि पर अपार ऋण एक स्वयं सिद्ध सत्य है।

आधुनिक भारतीय महाकवियों में बंगला के मधुसूदन दत्त, तेलुगु के सत्यनारायण तथा कन्नड के पुट्टप्पा ने उत्कृष्ट रामायण-सृजन किया है।

गद्यात्मक कृतियों की अपेक्षा काव्यों में ही पौराणिक आधार अधिक मात्रा में ग्रहण किया गया है। हिन्दी कविता साहित्य का विश्लेषण करने से यह सत्य स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के पौराणिक प्रबन्ध काव्यों में से बहु-संख्यक काव्य वैष्णव पुराणों से संबंधित हैं।

प्रबन्ध काव्य परंपरा के उपलब्ध हिन्दी ग्रन्थों में सर्व प्रथम रचना सधारु अग्रवाल का "प्रद्युम्न विजय" है जो अपभ्रंश और हिन्दी के पौराणिक साहित्य को परस्पर संबद्ध करनेवाली कड़ी है। जाखू मणियार का "हरिश्चन्द्र - पुराण" विष्णुदास के "महाभारत कथा", "रुक्मिणी मंगल", "स्वर्गारोहण", "स्वर्गा-रोहण पर्व" ईश्वरदास के "सत्यवती कथा", "एकादशी कथा" एवं "भारत मिलाप" आदि भी विष्णु काव्य परंपरा की प्रमुख रचनाएँ हैं। आगे प्रबन्धकाव्य रचयिताओं में तुलसीदास जी का नाम उल्लेखनीय है। "रामचरित मानस", "रामलल्ला नहछू", "पार्वती मंगल", "जानकी मंगल" आदि उनके प्रमुख प्रबन्ध काव्य हैं। इनके अतिरिक्त गीतिकाव्य जैसे "गीतावली", "कृष्ण गीतावली" और "विनय पत्रिका" तथा मुक्तक काव्य जैसे "वैराग्य संदीपिनी", "बरवै रामायण", "रामाज्ञा प्रश्न", "दोहावली", "कवितावली", "कलिधर्माधर्म निरूपण" आदि भी उल्लेखनीय हैं जो रामकथा पर आधारित हैं। केशवदास कृत "रामचन्द्रिका", प्राणचन्द चौहान का "रामायण महानाटक" हृदयराम भल्ला का "हनुमन्नाटक" आदि भी रामकथा पर आधारित प्रमुख रचनाएँ हैं।

सूरदास कृष्ण भक्ति शाखा के प्रमुख कवि है जिन्होंने कृष्ण कथा पर आधारित रचनाएँ की हैं। इनमें प्रमुख हैं - "सूरसागर"। परमानन्द दास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामि, छीत स्वामि, चतुर्भुजदास आदि ने कृष्ण काव्य पर रचनाएँ कीं। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में राजस्थानी की प्रसिद्ध कवयित्री मीरा और "वेलिक्रिसन रुक्मिनी री" का रचयिता पृथ्वीराज राठौर का नाम प्रमुख है।

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य काल में भी पौराणिक कथा पर आधारित रचनाएँ मिलती हैं। इनमें रसखान के "सुजान रसखानी" एवं "प्रेम-वाटिका" आलम के "माधवानल काम कंदला", "सुदामाचरित", "श्याम स्नेही" "आलम केलि" आदि प्रमुख हैं।

काव्य :-

आधुनिक युग में भी "रामायण" और "महाभारत" के आदर्श मूल्यों तथा आदर्श पात्रों की जीवन गाथा को आधार मानकर अनेक प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन हुआ है। हरिऔध ने जिस युग में साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया उस युग में सभी क्षेत्रों - सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक - के अन्तर्गत नव चेतना की लहर दौड़ रही थी, सारे समाज में बौद्धिक जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। इस जागृति ने उन्हें "प्रियप्रवास" के प्रणयन का प्रेरक बना दिया। इस काव्य के माध्यम से वे हिन्दी समाज में प्रचलित पौराणिक गाथाओं को आधुनिक युग के अनुकूल एवं बुद्धिग्राह्य बनाना चाहते थे। द्वारिका प्रसाद सक्सेना की राय में कवि ने कृष्ण को एक साधारण महापुरुष के रूप में अंकित करने के लिए "प्रियप्रवास" का निर्माण किया जिससे आधुनिक वैज्ञानिक युग के व्यक्ति भी उसकी महत्ता को समझकर उनके तुल्य ही लोकोपकारी कार्यों में रत हो सके।[1] उनकी अन्य रचना "वैदेही वनवास" है जिसमें उन्होंने सीता के परित्याग का पौराणिक प्रसंग प्रस्तुत किया है। कवि ने इसकी रचना उस समय की थी जिस समय वैज्ञानिक युग का पूर्ण प्रभाव हो चुका

---

1. द्वारिका प्रसाद सक्सेना - "प्रियप्रवास में काव्य संस्कृति और दर्शन" - पृ:38

था और सब बातें बुद्धि की तुला पर तौली जाने लगी थी।[1] बलदेव प्रसाद मिश्र द्वारा विरचित "रामराज्य" में कवि ने राष्ट्रीय एकीकरण तथा सुराज्य स्थापना से संबंधित राम के प्रयत्नों को प्रस्तुत किया है।[2] "साकेत संत" में भारत के चरित्र की महानता का चित्रण है।

"साकेत" के प्रणयन के द्वारा मैथिलीशरण गुप्त ने उपेक्षित पात्र उर्मिला को जन सम्मुख लाने का प्रयत्न किया है। साथ ही इसमें कैकेयी की द्वन्द्वात्मक मानसिक अवस्था का स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण भी प्रस्तुत किया है।[3] गाँधी युग में अनुप्रेरित होने के कारण गाँधीवाद का इसमें प्रभाव पड़ा। राम वन गमन के समय अयोध्यावासियों का सत्याग्रह इसी की ओर संकेत करता है। "साकेत" का रामराज्य गाँधीजी का रामराज्य ही है। दोनों में राजा की विशेषताएँ एक हैं। "नियत शासक लोक सेवक मात्र" अथवा "राज्य में दायित्व का ही भार" - ये महात्मजी के ही शब्दों की ध्वनि है।[4]

"पंचवटी" का आधार रामायण के शूर्पणखा प्रसंग है। इसमें उन्होंने लक्ष्मण-शूर्पणखा संवाद के दोनों चरित्रों के मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया है। यहाँ शूर्पणखा आज की स्वतंत्र नारी है जिसमें स्निग्ध आकर्षण नहीं बल्कि दाहक ज्वाला विद्यमान है।[5] "प्रदक्षिणा" गुप्तजी की रामकथा संबंधी पूर्ववर्ती रचनाओं का सार संकलन मात्र है। "लीला" का आधार "रामायण" का बाल काण्ड है।

"जयद्रथ वध" की रचना "महाभारत" के द्रोण पर्व को आधार बनाकर की है। "बाल संहार" का आधार "महाभारत" का अदि पर्व है। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए गुप्तजी ने इसमें नये पात्रों एवं नवीन वृत्तों को भी

---

1. हरिऔध - "प्रियप्रवास" - वैदेहीवनवास का इतिवृत्त
2. बलदेव प्रसाद मिश्र - "रामराज्य" - भूमिका
3. मैथिली शरण गुप्त - "साकेत" - पृ:49
4. डॉ. नगेन्द्र - "साकेत एक अध्ययन" - पृ:89
5. मैथिली शरण गुप्त - "पंचवटी" - पृ:49

जोड़ा है। "महाभारत" का ब्राह्मण अपनी विषमताओं का सामना करने में पराजित हो गया[1], तो "बक संहार" के ब्राह्मण ने बक के लिए अपने को आहुति देने में अपना सम्मान समझा। उसने अपने कुल गौरव को ऊँचा उठाया। "बक-संहार" के माध्यम से अतिथि और आतिथेय का कर्तव्य, परोपकार की महत्ता तथा न्याय और नीति के बारे में समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य रहा। इस कारण यहाँ पुरानी कथा को एक नया मोड़ मिल गया।

"वन वैभव" का भी आधार "महाभारत" ही है। इसमें पांडवों के वनवास की कथा कही है। "महाभारत" से हटकर इसमें हिन्दु-मुस्लिम एकता के लिए कवि परिश्रम करता हुआ प्रतीत होता है।[2] इस समस्या निवारण में कवि ने अतीत को वर्तमान में मिलाया है। गुप्तजी इस तत्व को आत्मसात कर सके कि त्याग, तपस्या, नम्रता, आदर और संतोष के प्रभाववाले भारत को वैमनस्य ने घेर लिया है। दुर्बलताओं और दुर्विचारों में दबी पड़ी मानवता की मुक्ति ही उनका लक्ष्य था। इसके लिए उन्होंने युधिष्ठिर को माध्यम बनाया और उसके चरित्र को मानवता के तत्वों से आपूरित किया।

"नहुष" का आधार "महाभारत" का नहुषोपाख्यान है। नहुष की कथा को प्रस्तुत कर कवि ने यह संदेश दिया कि मनुष्य को प्रभुत्व मिलने पर अपना मानसिक संतुलन नहीं खोना चाहिए। मनुष्य अपने कृत्यों से ही ऊपर उठता है और कृत्यों से गिर जाता है।[3] गुप्तजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार-बार उसे नीचे ले आती हैं।[4] गुप्तजी का नहुष देश प्रेमी है[5] तथा देव सभा में शची के द्वारा मानव की एकता, विश्व बंधुत्व आदि बनाये रखने का उपदेश भी कवि ने दिया है।[6]

"हिडिम्बा" महाभारत के आदि पर्व पर आधारित है तो भी गुप्तजी ने कुछ हेर फेर से उसमें मानवीयता लाने का प्रयत्न किया है। महाभारत

---

1. 'महाभारत' - आदि पर्व, अध्याय - 156, श्लोक - 20,25
2. मैथिलीशरण गुप्त - "वन वैभव" - पृ:33
3. राधेश्याम शर्मा - "मैथिलीशरण गुप्त" - पृ:31
4. मैथिलीशरण गुप्त - "नहुष" - निवेदन
5. वही - पृ:27
6. वही - पृ:56

की हिडिम्बा ने भीम से प्रस्ताव किया है, लेकिन गुप्तजी ने एक स्त्री के नाते हिडिम्बा के लिए वह अशोभनीय मानते हुए भीम को ही सर्व प्रथम हिडिम्बा से बोलते हुए चित्रित किया है। "महाभारत" का हिडिम्बा भीम के हाथों मरने के अंतिम क्षण तक अपना राक्षसी रूप प्रकट करता रहा, किन्तु गुप्तजी ने उसके अंतिम समय में मानवी रूप का वर्णन किया है। वह मरते-मरते अपनी बहन को बधाई देते हुए जाता है।[1] प्रस्तुत काव्य में कवि ने वर्ग भेद की जटिल व्यवस्था से ऊपर उठकर प्राणि मात्र से प्रेम करने का उपदेश दिया है जो आज कल मानव से विलुप्त हो जा रहा है।

"युद्ध" में महाभारत युद्ध का संक्षिप्त वर्णन है। सैरन्ध्री "महाभारत" के विराट पर्व अध्याय सात से लेकर अध्याय चौबीस तक की कथा को लेकर लिखा गया खण्ड काव्य है। "जयभारत" में "नहुष", "हिडिम्बा", "बक संहार", "सैरन्ध्री", "वन वैभव", "युद्ध" आदि स्वतंत्र रचनाओं को संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है।

"जयभारत" में गुप्तजी ने महाभारत की प्रमुख घटनाओं तथा पात्रों को आधार बनाया है तो भी उसमें निहित अप्राकृतिक तथा अतिमानवीय तत्वों की बुद्धिवादी व्याख्या द्वारा समाधान भी प्रस्तुत किया है। युयुत्सु, कर्ण, एकलव्य जैसे धिक्कृत एवं हीन पात्रों में गुणों की प्रतिष्ठा द्वारा उनमें चारित्रिक उत्कर्ष लाने का प्रयत्न किया है। एकलव्य का चरित्र इसका स्पष्ट प्रमाण है। उसने अपने को शिष्य मान लेने से इनकार करनेवाले द्रोणाचार्य से यह जिज्ञासा प्रकट की -

> गुरुवर नहीं अराजन्यों में क्या ईश्वर का अंश,
> और नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनुवंश?[2]

द्रौपदी के चीरहरण की घटना सुनकर कर्ण, जो पांडवों के विरोधी है, आत्मग्लानि एवं पश्चाताप से भर उठा।[3] जयभारत में कवि ने मानवता का उत्कर्ष दिखाया है। मानव के प्रति अपना अमर्ष प्रकट करते हुए घटोत्कच ने यह व्यक्त किया है।[4]

---

1. मैथिलीशरण गुप्त - "हिडिम्बा" - पृ:23
2. मैथिलीशरण गुप्त - "जयभारत" - पृ:53
3. वही - पृ:338
4. वही - पृ:176

"द्वापर" का आधार श्रीमद् भागवत महापुराण है। इसके निर्माण के पीछे युगीन प्रेरणा भी काम कर रही थी। "द्वापर" की रचना उस समय हुई जब कि भारत गुलामी की जंजीर में बँधा हुआ था। भारत जननी की इस दयनीय स्थिति ने कवि को दुःखी बना दिया। माता को दुःख से मोचित करने के लिए एक अमर बच्चे की आवश्यकता के बारे में कवि चिन्तित हो उठे जो उसके दैन्य मिटाकर सांत्वना दे सके। "द्वापर" के कृष्ण ने इसकी पूर्ति की। "द्वापर" की रचना सोलह खण्डों - जैसे "श्रीकृष्ण", "राधा", "विधृता", "बलराम", "ग्वालबाल", "नारद", "देवकी", "उग्रसेन", "कंस", "अक्रूर", "नन्द", "कुब्जा", "उद्धव", "गोपी", "सुदामा" - में हुई है।

रामकुमार वर्मा ने उपेक्षित निषाद कुमार एकलव्य के चरित्र के माध्यम से निषाद संस्कार पर प्रकाश डालने के लिए "एकलव्य" का प्रणयन किया है। "महाभारत" में संभव पर्व में 132-वें अध्याय के 32-वें श्लोक से लेकर 60-वें श्लोक तक एकलव्य की कथा वर्णित है। "एकलव्य" में एकलव्य तथा गुरु द्रोण के चरित्रों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ भारत में प्रचलित छुआछूत के प्रति तीखा व्यंग्य भी किया है।

बालकृष्ण शर्मा नवीन ने "उर्मिला" में राम-लक्ष्मण-जन्म से लेकर रावण विजय और फिर अयोध्या आगमन तक की कथा का वर्णन किया है। उन्होंने राम-वन-गमन को एक विशेष रूप में देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। उनकी राम-वन-गमन भारतीय संस्कृति प्रसारार्थ महान यज्ञ के रूप में थी।[1] इसमें उर्मिला-लक्ष्मण के चरित्र के माध्यम से कर्तव्य निष्ठा, त्याग, विश्व बन्धुत्व आदि सात्विक भावों की भी अभिव्यक्ति की गयी है।

प्रसादजी ने "कामायनी" के लिए वैदिककालीन ऐतिहासिक पात्रों को चुन लिया है। यहाँ उन्होंने उन पात्रों के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने पुरुष और नारी की विज्ञान सम्मत प्रकृति और प्रवृत्ति

---

1. बालकृष्ण शर्मा नवीन - "उर्मिला" - रामलक्ष्मण चरणामृत मस्तु, भूमिका

का चित्रण मनु और कामायनी के रूप में करने की चेष्टा की है।[1] मानव मनोविज्ञान को प्रतिष्ठित करने के लिए ही उन्होंने अपने काव्य के सर्गों का शीर्षक मानसिक वृत्तियों के आधार पर किया।

निराला की "राम की शक्तिपूजा" तथा नरेश मेहता की "संशय की एक रात" का राम शंकाग्रस्त आधुनिक मानव का प्रतीक है। ऐसे संशय के द्वारा उन्होंने जन साधारण के लीलामय भगवान न बनकर एक नवीन पुरुषोत्तम की भूमिका ग्रहण की है और मनुष्य मात्र की तरह राष्ट्रीय मुक्ति की चिन्ता में समर्पित भी।[2] "संशय की एक रात" में राम सत्यों और संकल्पों की अनिर्णयात्मक स्थिति से पीड़ित है।[3]

उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर :-

दिनकर ने उर्वशी-पुरूरवा के प्रेम विषयक पुराख्यान को मानव जीवन की द्वन्द्वात्मक मनस्थितियों के साथ-साथ अभिशप्त मानव की नियति के आख्यान के लिए चुन लिया। इस महाकाव्य की उर्वशी सनातन नारी और पुरूरवा सनातन पुरुष है। "उर्वशी" के प्रणयन के लिए उन्होंने ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण और विभिन्न पुराणों के साथ-साथ महाभारत, वाल्मीकि रामायण और कालिदास के विक्रमोर्वशीय से सामग्री चुन ली है।[4]

उर्वशी-पुरूरवा प्रेम प्रसंग केवल उपादान मात्र रहा। इसके पीछे कवि का उद्देश्य सनातन पुरुष और सनातन नारी के संबंधों की मार्मिक व्याख्या करना रहा है। कवि के अनुसार उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र का प्रतीक है, पुरूरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलनेवाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।[5]

---

1. डॉ. इन्द्रनाथ मदान - "कामायनी मूल्यांकन और मूल्यांकन" - पृ:24
2. दूधनाथ सिंह - "निराला आत्महन्ता आस्था" - पृ:143-144
3. प्रेमचन्द माहेश्वरी - "हिन्दी महाकाव्य स्वरूप और विकास - बदलते युगबोध के परिप्रेक्ष्य में" - पृ:39
4. डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा - "पुराख्यान और कविता" - पृ:138
5. रामधारी सिंह दिनकर - "उर्वशी" - भूमिका - पृ:ख

कुरुक्षेत्र :-

नवीन युग की विशेषताओं जैसे मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, मानवतावाद आदि के आलोक में युगीन समस्याओं को व्यक्त करने के लिए कुरुक्षेत्र युद्ध को दिनकर ने "कुरुक्षेत्र" का माध्यम बनाया है। कवि ने युद्ध को निन्दित एवं क्रूर कर्म माना।[1] लेकिन साधारण परिस्थितियों में जब शान्ति से काम नहीं चलता तो शांति, विनय, क्षमा आदि सांस्कृतिक मूल्य न होकर पाप बन जाते हैं। वहाँ प्रतिशोध ही अनिवार्य बन जायेगा।

भीष्म के माध्यम से कवि ने आज के समाज में व्याप्त विसंगति और भयानक विद्रूपता की ओर भी संकेत किया है। उनका हृदय एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।[2] यहाँ आज के मानव के मस्तिष्क के विकास के सामने हृदय पक्ष के पिछड़ेपन को भी व्यक्त किया है।

रश्मिरथी :-

"रश्मिरथी" कर्ण के जीवन और व्यक्तित्व को आधार बनाकर लिखा गया काव्य है। कवि ने कर्ण के चरित्र चित्रण के बहाने "अपने समाज और समाज के विषय में जो कुछ कहना चाहता था,[3] उसे व्यक्त किया है। इस चरित नायक के उद्धार की प्रक्रिया में कवि को भावि भारतीय समाज के ऊर्ध्वगामी उत्थान का आभास मिलता है।[4]

सेनापति कर्ण – लक्ष्मीनारायण मिश्र.

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने उपेक्षित मानवता का प्रतीक कर्ण के चरित्र चित्रण को तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक पुट देकर प्रस्तुत किया है। सेनापति कर्ण की कथा "मंत्रणा", "चिन्ता", "दृष्टिधर्म", "विषाद", "अध्यदान" आदि पाँच

---

1. दिनकर – कुरुक्षेत्र – निवेदन
2. वही
3. दिनकर – रश्मिरथी – भूमिका
4. डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा – "पुराख्यान और कविता" – पृ:77

सर्गों में कही गयी है। इस काव्य के प्रणयन का कवि का प्रमुख लक्ष्य है कर्ण के गरिमासंपन्न चरित्र का आख्यान और पाण्डव पक्ष का अनौचित्य प्रतिपादन। महाभारतकार ने सत्य की रक्षा करते हुए भी पाण्डवों के प्रति काफ़ी पक्षपात दिखलाया है। मिश्रजी ने बड़ी ही निर्भीकता तथा निष्पक्षता से कर्ण के चरित्र को वास्तविक पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया है।[1]

कर्ण - केदारनाथ मिश्र प्रभात :-

मिश्रजी ने कर्ण के पौरुष और महानता का उद्घाटन किया तो प्रभातजी ने उसके चरित्र के करुण पक्ष को काव्य का केन्द्र माना। उनके लौह शरीर में कहीं करुणा का निर्झर बहता था। जन्म होते ही माता कुन्ती ने उसे अपने से विलग कर दिया, सूत परिवार ने उसका पालन-पोषण किया। समाज में उसे सर्वत्र तिरस्कार मिला, दूसरों की भूल के कारण ही उसे सगे भाइयों के विरुद्ध हथियार उठाना पड़ा। न केवल उनके गुरुजन बल्कि स्वयं भगवान कृष्ण ने उसके साथ छल किया। कर्ण मारे भी गये तब, जब वह रथ से नीचे उतर कर रथ का पहिया ठीक कर रहा था। चूँकि महावीर कर्ण के जीवन का करुण पक्ष मुझे प्रिय है, वह अनायास काव्य का आधार बन गया। इसके लिए उन्होंने विज्ञान का सहारा लिया।[2]

कनुप्रिया - धर्मवीर भारती :-

राधा-कृष्ण-प्रेम के माध्यम से धर्मवीर भारती ने विराट प्रेम का चित्र खींचा। प्रस्तुत काव्य में राधा के जीवन को समग्रता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। ६x१

द्रौपदी - नरेन्द्र शर्मा :-

"द्रौपदी" का आधार "महाभारत" है। "महाभारत" कथा के पात्र द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए

---

1. लक्ष्मीनारायण मिश्र - "सेनापति कर्ण" - भूमिका
2. केदारनाथ मिश्र प्रभात - "कर्ण" - भूमिका

मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। द्रौपदी यहाँ जीवनी-शक्ति है और पाँचों पाण्डव पाँचों तत्व है - युधिष्ठिर आकाश तत्व भीम प्राण तत्व, अर्जुन अग्नि तत्व, नकुल जल तत्व, सहदेव भूमि तत्व।[1] द्रौपदी इन पाँचों तत्वों की प्रेरणा बनी और कृष्ण सारथी।

नाटक :-

भारतीय भाषाओं के नाट्य साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश भाषाओं में नाटक साहित्य की शुरुआत पौराणिक नाटकों के सृजन से होती है।

मलयालम :-

यद्यपि नाटक साहित्य का जन्म उन्नीसवीं शती में हुआ[2] तो भी बहुत पहले से केरल में "चाक्यार कूत्तु" और "कूडियाट्ट" के रूप में मन्दिरों के प्रांगण में पुराण कथाओं का अभिनय हुआ करता था। इस प्रकार मलयालम के नाटकों का आधार पौराणिक ही है। केरलवर्मा वलियकोयित्तम्पुरान ने कालिदास का "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" मलयालम में अनूदित किया। यह अनुवाद ही इतना लोकप्रिय हुआ कि तम्पुरान को विद्वानों ने "केरल कालिदास" की उपाधि से विभूषित किया।[3] इससे सिद्ध होता है कि मलयालम के पाठक भी पौराणिक घटनाओं का नाटकीय रूप विशेष रूप से पसंद करते थे।

कन्नड :-

कन्नड के नाटक साहित्य का आरंभ भले ही उन्नीसवीं शती के अंतिम से हो, परंतु इसका आरंभ भी पौराणिक गाथाओं के बाहुल्य से ही हुआ है।[4] कन्नड का प्रमुख नाट्य संस्थापक ए. वी. वरदाचार्य ने पौराणिक चरित्रों के आधार पर

---

1. नरेन्द्र शर्मा - द्रौपदी - भूमिका
2. देवर्षि सनाढ्य - हिन्दी के पौराणिक नाटक - पृ:95
3. वही - पृ:95
4. वही - पृ:92

"विष्णु लीले", "कृष्ण लीले" का सृजन किया। कन्नड नाट्य साहित्य की प्रमुख हस्ती डी.पी.कैलासम का प्रमुख नाटक है "कर्ण"।

तमिल :-

तमिल नाटक की पूर्व परंपरा "तेरुक्कूत्तु" अधिकतर पौराणिक कथाओं के आधार पर ही अपनी छटा खिलाती। "महाभारत" और "रामायण" की अधिकता भी रही। बाद में जब "तेरुक्कूत्तु" को सुधार कर एक नयी नाटक मण्डली का रूप दिया गया तब उस नाटक मण्डली ने भी दो प्रसिद्ध पौराणिक नाटकों का प्रदर्शन किया, वह है - "दशावतार" तथा "संपूर्ण रामायण"।[1]

तेलुगु :-

तेलुगु नाटक के पूर्व पुरुष वहाँ के "यक्षगान" है जिनका लिपिबद्ध साहित्य सत्रहवीं शताब्दि में प्राप्त होता है। "यक्षगान" की कथाएँ पुराण प्रसिद्ध हरिश्चन्द्र, नल, राम, पाण्डव, कृष्ण आदि के चरित्र ही है।[2] सभी भारतीय भाषाओं की भाँति तेलुगु का वास्तविक नाटक साहित्य उन्नीसवीं शताब्दि से प्रारंभ होता है। धर्मवरम कृष्णमाचार्य आधुनिक तेलुगु नाटक के प्रारंभकर्ता है। उन्हें आन्ध्र नाटक पितामह कहा जाता है। इनके नाटकों में "चित्रनालीयमु", "सावित्री", "चन्द्रहास", "पादुका पट्टाभिषेकमु" आदि पौराणिक नाटक प्रमुख हैं।[3] गुन्टूर ज़िले के वेनुवकोंड वेंकटय ने पद्य और गीत में कई नृत्य नाटक लिखे। उन्होंने महाभारत से "उत्तर" "गोग्रहणम्" आदि कथाएँ लीं और भागवत से "वामन चरित्र आदि उपाख्यान ग्रहण किये।[4]

गुजराती नाटक :-

गुजराती भाषा के नाटकों का आरंभ उन्नीसवीं सदी से होता है। गुजराती के सबसे पहला नाटक एक यूनानी नाटक का गुजराती रूपांतरण "लक्ष्मी" नाटक है जिसकी रचना सन् 1851 में हुई।[5] यूनानी नाटककार एरिस्टोफेलिस के

---

1. हिन्दी के पौराणिक नाटक - पृ:94
2. वही - पृ:92
3. वही - पृ:92
4. डॉ. नगेन्द्र - "भारतीय नाट्य साहित्य" - पृ:432
5. डॉ. रणधीर उपाध्याय - हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्
पृष्ठ:59

"प्लूटस" नामक रूपक के अंग्रेज़ी अनुवाद के आधार पर कवि दलपत राय ने इस नाटक का प्रणयन किया। गुजराती का प्रमुख नाटककार कन्हैयालाल मणिक्लाल मुंशी है। उन्होंने महाभारत और पुराण काल की प्रसिद्ध गाथाओं के आधार पर कई नाटक लिखे हैं। जिनमें मुख्य हैं "पुरन्धर पराजय", "अविभक्त आत्मा", "पुत्र - समोवडी", "अम्बर कन्या", "देव दीपावली", "विश्वामित्र ऋषि" और "तर्पण"।

मराठी नाटक :-

मराठी साहित्य में नाटकों का आरंभ सन् 1843 में विष्णुदास भावे के पौराणिक नाटक से हुआ।[1] मराठी का पौराणिक साहित्य बहुत समृद्ध है। किरलोस्कर के पौराणिक नाटक अधिक प्रसिद्ध है। ये हैं "शाकुन्तल", "सौभद्र" और "रामराज्य वियोग"। खाडिलकर के नाटक हैं - "कीचक वध", "बायकांचे बंड", "विद्याहरण", "सत्व परीक्षा", "स्वयंवर", "द्रौपदी", "मेनका" तथा "सावित्री"।

बंगला नाटक :-

इस भाषा के आरंभिक नाटक संस्कृत या अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद या रूपांतर थे। सन् 1852 में सबसे पहले मूल बंगला नाटक लिखे गये।[2] ये थे योगेंद्र चन्द्र गुप्त कृत कीर्तिविलास" और तारान्चरण सिकन्दर का "भद्रार्जुन नाटक"। द्विजेन्द्र लाल राय के दो प्रमुख पौराणिक नाटक हैं "पाषाणी" और "सीता"। बाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गीतिनाट्य लिखा जैसे "चित्रांगता", "कच देवयानी", "कर्ण और कुन्ती" तथा गाँधारी का आवेदन"। ये भी पुराण प्रसिद्ध कथा पर आधारित रचनाएँ हैं।

असमिया नाटक :-

असमिया नाटक का इतिहास शंकर देव के नाम से संबद्ध अंकिया नाट प्रकार के नाटकों से प्रारंभ होता है।[3] उनका द्वितीय नाटक "कालीदमन" जो कालिदास की प्रसिद्ध "कृष्णलीला" पर आधारित है।[4]

---

1. डॉ. नगेन्द्र - "आधुनिक हिन्दी नाटक" - पृ:43
2. भारतीय नाट्य साहित्य - पृ:460
3. वही - पृ:482
4. वही - पृ:483

उर्दू नाटक :-

उर्दू का सबसे प्रथम नाटक 1853 में लिखा अमानत का "इंदर-सभा" माना जाता है।[1] पौराणिक देव इन्द्र को लेकर उर्दू नाटक परंपरा का सूत्रधार करने में अमानत को कोई एतराज नहीं था।

हिन्दी नाटक :-

आधुनिक हिन्दी का प्रथम नाटककार कौन है? इस विषय को लेकर विद्वानों के बीच में काफी मत-भेद है। भारतेन्दु ने महाराज रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह के नाटक "आनन्द रघुनन्दन" को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। बहुत से विद्वानों ने इस बात का समर्थन किया है।[2] अन्य कुछ विद्वान[3] संस्कृत नाटक "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के शुद्ध हिन्दी अनुवाद "शकुन्तला नाटक" 1863 को हिन्दी के आदि-नाटक माना गया है। इसके अनुवादक लक्ष्मण सिंह है। प्रथम नाटक के बारे में यद्यपि विद्वानों में मत-भेद है फिर भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक गाथा के आधार पर ही प्रथम नाटक का सृजन हुआ है।

हिन्दी पौराणिक नाट्य धारा के प्रथम युग में भारतेंदु का स्थान महत्वपूर्ण है। उनके चार पौराणिक नाटक हैं - "धनंजय विजय", "सत्य - हरिश्चन्द्र", "चन्द्रावली" तथा "सती प्रताप"। "सत्य हरिश्चन्द्र" उनका सबसे प्रथम मौलिक नाटक है। मानव जीवन के शाश्वत सत्यों को उजागर करनेवाले प्रस्तुत नाट के संबंध में दशरथ ओझा ने ठीक ही कहा है - "समाज की गति इतनी द्रुत है कि बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व लिखित नाटक आज प्राचीन और धूमिल पड़ गये हैं, किन्तु 75 वर्ष से अधिक हो गये हैं, इसकी ज्योति पूर्ववत् जगमगा रही है।[4] भारतेंदु से प्रेरणा पाकर उस युग में पौराणिक आख्यानों के आधार पर कई नाटक लिखे गये जिनमें

---

1. रामबाबू सक्सेना - उर्दु साहित्य का इतिहास - पृ:121
2. अ. दशरथ ओझा - नाट्य निबंध
   आ. डॉ. सोमनाथ गुप्त - "पूर्व भारतेंदु नाटक साहित्य" - पृ:60
3. अ. श्रीकृष्ण लाल - आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास" - पृ:204
4. डॉ. दशरथ ओझा - हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ:217
   आ. देवर्षि सनाढ्य - हिन्दी के पौराणिक नाटक - पृ 98
4. डॉ दशरथ ओझा - हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ 217.

प्रमुख हैं देवकी नन्दन त्रिपाठी का "सीता हरण", "रासलीला", "रुक्मिणी हरण", "कंस वध", "नन्दोत्सव", काशीनाथ खत्री का "लक्ष्मी का स्वप्न", बदरीनारायण प्रेमधन का "प्रयाग राम गमन", गिरिधर लाल रचित "रामवनयात्रा", राधाचरण-गोस्वामी का "श्रीदामा" बालकृष्ण भट्ट के "शर्मिष्ठा", "किरातार्जुनीय", "बृहन्नला आदि। भारतेंदु युग में पौराणिक कथावस्तु का ग्रहण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इस प्रकार संख्या की दृष्टि से यह पौराणिक नाटकों का उर्वर युग था। अधिकांश नाटकों में नैतिक उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है।[1]

पौराणिक नाट्य धारा के द्वितीय युग में नाटक की रंगमंचीयता पर भी थोड़ा ध्यान देकर कुछ नाटक रचे गये। इस युग का नेतृत्व बदरीनाथ भट्ट ही करते हैं। डॉ. श्रीकृष्ण लाल पौराणिक नाटकों के वर्गीकरण में बदरीनाथ भट्ट स्कूल - एक पृथक धारा स्वीकार की है।[2] उनके नाटक हैं - "कुरुवन दहन", "वेनचरित"। इस युग की अन्य रचनाएँ हैं मैथिलीशरण गुप्त का "तिलोत्तमा" विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक कृत "भीष्म" सुदर्शन का "अंजना" बलदेव प्रसाद मिश्र के "असत्य संकल्प" और "वासना वैभव" गोविन्द वल्लभ पंत का "वरमाला" जयशंकर-प्रसाद का "जनमेजय का नागयज्ञ" आदि। संख्या की दृष्टि से प्रथम युग की अपेक्षा इस युग में नाटक कम ही लिखे गये। फिर भी अभिनेयता की मात्रा अधिक बढ़ी। नाटकीय शिल्प विधि में पाश्चात्य और पूर्वीय दोनों दृष्टियों से कार्य व्यापार को संघटित करने का स्तुत्य कार्य किया है। "राष्ट्र की पराधीनता और अत्याचार का प्रतिबिंब बड़ी बेचैनी के साथ नाटककारों ने उतारा। सामाजिक भावनाओं के परिष्कार के लिए भी द्वितीय युग के पौराणिक नाटकों में प्रयत्न किया गया।[3] डॉ. सोमनाथ गुप्त ने ठीक ही कहा है - इस धारा के नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक अपने कथानक के लिए पौराणिक आख्यान मात्र ले लेते हैं। उनके पात्रों और घटनाओं का रूप तो ज्यों

---

1. रमेश गौतम - "समकालीना के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:43
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास - पृ:248
3. हिन्दी के पौराणिक नाटक - पृ:173

का त्यों रहता है, परन्तु विषय का प्रतिपादन उन्होंने अपने विचार से किया है। प्रतिपादन में देश की लेखक कालीन चेतना का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट और गहरा है। वास्तव में यदि नामावली को निकाल दिया जाय तो नाटक समस्या नाटकों का रूप धारण कर लें, यह पता भी न चल पाये कि कथानक कहाँ से लिये गये हैं। अतएव पुरातन को नूतन की दृष्टि से देखना अधिकांश नाटकों का प्रधान लक्ष्य है।[1]

तृतीय युग में पौराणिक नाट्य धारा ने एक नया मोड ले लिया है। पुराण के माध्यम से समकालीनता की अभिव्यक्ति देने की जो प्रवृत्ति द्वितीय युग में शुरू हुई थी यह प्रवृत्ति इस युग में और तीव्र हो गयी। इसकी विशद चर्चा आगे के अध्यायों में की जायेगी।

****

---

1. डॉ. सोमनाथ गुप्त - "हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास" - पृ:212

अध्याय-2

स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियाँ तथा पौराणिक नाटक

अध्याय - 2

स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियाँ

सन् उन्नीस सौ सैंतालीस अगस्त पन्द्रह को भारत विदेशी शासन से मुक्त हुआ, लेकिन धार्मिक दृष्टि से यह दिन अत्यंत संकटपूर्ण और दुर्भाग्य पूर्ण रहा। क्योंकि धर्म के आधार पर इसी दिन इस देश का विभाजन भी हुआ।

यद्यपि सन् उन्नीस सौ सैंतालीस में भारत स्वतंत्र हुआ तो भी सन् अठारह सौ सतावन से इसके लिए लड़ाई करते रहे। यह लड़ाई भारतीय इतिहास का प्रमुख सीमा चिह्न है। यह पहली लड़ाई है जो साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा भारतीय जनता के ऊपर लादी गुलामी के विरुद्ध लड़ी गयी है। इस समय के वीर जवानों के देश प्रेम एवं वीरता ने भारतीयों की अगली पीढ़ी के मन में अमिट छाप छोड़ दी। यह कभी न सूखनेवाला प्रेरणा स्रोत था। सन् 1947 तक जबकि भारत स्वतंत्र हुआ, इस प्रेरणा स्रोत ने स्वतंत्रता संग्राम को आगे चलाने में भारतीयों को प्रेरणा प्रदान की।

अंग्रेज़ी शासन के फलस्वरूप भारत पर अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार हुआ। अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास के अध्ययन ने भारत की युवा पीढ़ी के मन को अधिक प्रभावित किया। उनके मन में निजी शासन, स्वतंत्र चिन्ता आदि की भावनाएँ पनपने लगीं।

सन् 1885 में ए.ओ. ह्यूँ के नेतृत्व में इन्डियन नाशनल कॉंग्रेस की स्थापना हुई। यही कॉंग्रेस भारतीय जनता का संघर्ष करने का संगठन बन गया। इस संगठन के नेताओं में दादा बाय नवरोजी, फिरोज़ शा मेहता, सुरेन्द्रनाथ बानर्जी, एम.जी. रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, लाला लजपत राय, विपिन चन्द्रपाल आदि प्रमुख हैं।

विदेशी शासक तो देशीयता को दबाने का मार्ग परख रहे थे। देशीयवादी शक्ति को शान्त करने के लिए सन् 1909 में "मिन्टो मोरले" नामक

शासकीय पुनर्निर्माण (administrative reform) बनाया। यह व्यवस्था "विघटित कर शासन करना" नामक साम्राज्य लोलुप नीति के अनुकूल थी। विदेशी शासक की यह जातीयता आगे चलकर भारत के विभाजन का कारण बन गया।

इसी बीच गाँधीजी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आन्दोलन सबल हो गया। कानून का निराकरण, शांतिपूर्ण झगड़ा, अदालतों की बहिष्कार, हड़ताल, शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार, मदिरा, विदेशी चीज़ों आदि की दूकानों का धरना करना, लगान निराकरण आदि इस आंदोलन के भाग बन गये। गाँधीजी की इस शांतिपूर्ण नीति से भारत के अधिकांश लोग प्रभावित हुए। इनमें मोतीलाल नेहरू, श्रीमती सरोजिनी नायिडु, हकीम अजमल खाँ, वितल भाई पटेल, वल्लभाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, सी. राजगोपालाचारी, सी. आर. दास, जवाहरलाल नेहरू आदि प्रमुख हैं।

सन् 1929 की लाहोर समिति में काँग्रेस के लक्ष्य – "संपूर्ण स्वराज" का नारा बुलन्द किया। सन् 1930 में गाँधीजी के नेतृत्व में राजनीतिक आज्ञा का उल्लंघन किया तथा 1930 जनवरी 30 को समूचे भारत में स्वतंत्रता दिवस मनाने का निश्च किया। उसी वर्ष दण्डी नामक स्थान में बिना लगान चुकाये नमक बनाकर इसका प्रारंभ किया। थोड़े ही दिन में समस्त भारत इस आन्दोलन में भाग लिये।

भारत की समस्याओं का समाधान ढूँढने के लिए ब्रिटीश सरकार ने लंदन में सन् 1930 में गोल मेज़ समिति शुरू की। सन् 1931 की समिति में काँग्रेस की प्रतिनिधि गाँधीजी थे। इन दोनों समितियों ने भी भारत की समस्याओं को दूर करने का कोई सुझाव नहीं पेश किया। गाँधीजी खाली हाथ लौट आये। आगे चलकर गाँधीजी तथा अन्य नेताओं को गिरफ्तार किया।

सन् 1927 के साईमन कमिशन[1] की रिपोर्ट के आधार पर सन् 1935 में "इन्डिया गवेन्मेंट एक्ट" (India Government Act) की स्थापना

---

1. सन् 1919 के रौलट एक्ट के कार्यक्रमों को व्यवत करने तथा उत्तरदायी शासन व्यवस्था के लिए आवश्यक परिवर्तन लाने के वास्ते सन् 1927 में सर जॉन साइमन के नेतृत्व में एक कमिशन की नियुक्ति की।

हुई।[1] इसके फलस्वरूप प्रान्तों में "द्विराज" का अंत हुआ। सन् 1937 में प्रान्तीय स्वयं शासन का आरंभ हुआ। लेकिन द्वितीय महायुद्ध में भारतीय नेताओं से चर्चा किये बिना वाइसराय ने यह घोषणा की कि भारतीयों को भी संयुक्त पार्टी में विलीन कर दिया है। सरकार के युद्ध के परिश्रमों को "इन्डियन नाशनल कॉंग्रेस" ने इनकार कर दिया। लेकिन जो लोग ब्रिटीश शासन के अनुकूल थे वे सरकार के इन परिश्रमों के सहायक बने। दक्षिण पूर्व एशिया में जापान की विजय ने ब्रिटीश शासकों को भारतीय नेताओं से समझौता लेने में प्रेरणा दी। देशीय नेताओं से विचार विमर्श के लिए सन् 1942 में सर स्टाफोर्ड क्रिप्स नामक राजदूत को नियुक्त किया। खेद की बात है कि उसी समय गाँधीजी के नेतृत्व में कॉंग्रेस तथा मुहम्मद अलि जिह्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग - दोनों संघर्ष कर रहे थे। शासन को भारतीय नेताओं के हाथों सौंप देने के कॉंग्रेस की दावा से अंग्रेज़ सहमत न हुए। अतः "क्रिप्स मिशन" विफल हुआ। भारतीय नेताओं ने सोचा कि अंग्रेज़ों से पूर्ण स्वराज की माँग का यही उचित समय है। इस उद्देश्य से सन् 1941 अगस्त 8 को "भारत छोड़ो" आन्दोलन शुरू किया। भारत भर में इसकी लहरें मारने लगी। मुहम्मद अलि जिह्ना इस आन्दोलन के विरोधी थे। उनका यह विरोध विदेशी शासकों के विरुद्ध आगे बढ़ने का उचित अवसर बना।

सुभाष चन्द्र बसु भी भारत की स्वाधीनता के लिए परिश्रम करनेवालों में थे। वे सन् 1942 में जर्मनी से सिंगपूर आये और "आज़ाद हिन्द फौज" नामक सेना बनायी। लेकिन अंग्रेज़ी शक्ति के सामने वे पराजित हुए।

---

1. "Many prominent leaders organised themselves into a new party - 'Swaraj Party' - with in the fold of the Indian National Congress. As they were in a majority in the Central Legislative Assembly they raised a demand for India with in the British Empire and Provincial Authority in the provinces As a result of this demand the British Parliament appointed the Indian Statutory Commission in 1927 with SirSimon on its Chairman to visit India renew the situation".

'Indian History and Culture' - P.298.

लॉर्ड वेवल, जो सन् 1943 में भारत के वाईसराय बने, कॉंग्रेस और मुस्लिम लीग - दोनों की एकता तथा शासन को भारत के नेताओं के हाथों सौंपने के पक्ष में थे। लेकिन जिन्ना तो भारत के विभाजन पर तुले रहे।[1]

सन् 1946 मार्च में ब्रिटीश प्रधानमंत्री क्लमेंट आटली ने "काबिनट मिशन" नामक तीन अंग समिति को भारत भेजा। शासन व्यवस्था के निर्माण में शासकों को सहायता देने, भारतीय नेताओं की सहायता से "एक्सक्यूटिव कौंसल" (Executive Council) का निर्माण, अंतरिम सरकार का निर्माण आदि इनके प्रमुख लक्ष्य थे। जिन्ना ने इस मिशन को नकार दिया। लेकिन अंत में सन् 1946 अक्तूबर को मुस्लिम लीग भी कॉंग्रेस के समान नयी सरकार में मिल गया और जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार की नियुक्ति हुई। क्लेमेंट आटले ने यह घोषणा की कि सन् 1948 जून को विदेशी सरकार भारत छोड़ देगा। भारत के नया वाइसराय लॉर्ड मौंटबाट्टन हुए। उनके कहे अनुसार भारत को दो भागों में विभाजित किया। इस प्रकार सन् 1947 अगस्त पन्द्रह को भारत स्वतंत्र हुआ तथा भारत और पाकिस्तान नामक दो राष्ट्र बन गये।

धार्मिक परिस्थितियाँ :-

अपने धर्म प्रचारणार्थ जब ईसाई मिशनरियाँ भारत आयीं, तब भारतीय जनता अंधविश्वास और रूढी के चंगुल में फँस गयी थी। कृषि प्रधान राष्ट्र होने के कारण विज्ञान के क्षेत्र में भारत अधिक उन्नति न पा सका। प्राकृतिक प्रभाव से हार मानकर व्यक्ति निराश, उदासीन एवं भाग्यवादी हो गया। परिणामत: वे अंधविश्वासी तथा रूढिवादी बन गये। ऐसी स्थिति का ईसाई धर्म प्रचारकों ने लाभ उठाया। उन्होंने यूरोपीय सभ्यता और विज्ञान का प्रचार भारत में किया। नवीन बौद्धिक उन्मेष ने भारतीय विचार धारा पर आघात पहुँचाया। भारतीय नव शिक्षित युवा पीढी ईसाइयत की ओर आकृष्ट होकर पाश्चात्य सभ्यता के उपासक होने लगी

---

1. "Lord Wavell tried his best to bring out unity between the Congress and the Muslim League, so that Indian could remain undivided and power could be transferred to Indian leaders. But Jonnah would not give in and raised the slogan 'Divide and Quit' ".'Indian History and Culture' P.305. J.Fuste and I.R.Mehta

और हिन्दुत्व की भर्त्सना करने लगी। इस अवस्था में भारतीय संस्कृति पतनोन्मुख स्थिति की ओर खिसकने लगी। परिणाम स्वरूप इस अवस्था में नवीन विचारधाराओं को लेकर राजाराम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामि विवेकानन्द, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, रामतीर्थ आदि धार्मिक सुधारकों ने समाज में पदार्पण किया।

सर्वप्रथम राजाराम मोहन राय ने आधुनिक सामाजिक विचारों को प्रतिष्ठित करने के लिए सन् 1828 ई. में कलकत्ता में ब्रह्म समाज की नींव डाली। हिन्दू जनता धर्म के विषय में बिलकुल पौराणिक संस्कारों से भरी हुई थी। उन्होंने हिन्दु धर्म के इस किले को तोड़कर हिन्दू हृदय को शुद्ध धर्म से भर लेने का परिश्रम किया। उन्होंने ईसाई, हिन्दू, मुस्लिम तीनों धर्मों का गहन अध्ययन किया, तीनों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया। इस कारण वे विश्ववादी हो गये। उन्हें हिन्दुत्व की पवित्रता, इस्लाम की रुचि तथा ईसाइयत की सफाई बेहद पसंद थी।[1] रायजी का सुधारक कार्य भद्र लोग तक ही सीमित रहा।

उनकी मृत्यु के बाद केशवचन्द्र सेन ने "भारत ब्रह्म समाज" की स्थापना की। इन्होंने स्त्री-शिक्षा शुद्धि आन्दोलन, विधवा पुनर्विवाह, मूर्तिपूजा का खंडन आदि पर विशेष बल दिया था। यूरोपीय संस्कृति, धर्म और वैज्ञानिक विचार धारा से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण[2] ब्रह्म समाज थोड़े ही लोगों का धर्म रह गया।

यद्यपि ब्रह्म समाज शिष्ट लोगों के बने लेकिन महाराष्ट्र में रानडे "प्रार्थना समाज" के द्वारा समाज के सब स्तरों के लोगों के लिए द्वार खोल देना चाहते थे। इनके मुख्य उद्देश्य थे - जाति प्रथा का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन, स्त्री शिक्षा का प्रचार और बाल विवाह का विरोध।

यूरोप के बुद्धिवाद ने भारतवर्ष को इस प्रकार कुचलाया था कि हिन्दू संस्कृति के बुद्धि सम्मत रूप को आगे लाये बिना कोई भी सुधारक उसकी रक्षा

---

1. रामधारी सिंह दिनकर "संस्कृति के चार अध्याय" - पृ:544
2. वही - पृ:549

न कर सकता था। हिन्दुत्व की सांस्कृतिक उत्थान का कार्य दयानन्द सरस्वती ने संपन्न किया। उन्होंने बुद्धिवाद की कसौटी पर हिन्दुत्व, ईसाइयत और इस्लाम को कसकर तीनों धर्मों की सच्चाईयों और कमज़ोरियों को लोगों के सामने प्रस्तुत किया। वे सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में ही व्यक्त करना चाहते थे। "सत्यार्थ प्रकाश" के प्रणयन के पीछे यही कार्य काम कर रहा था। इसकी भूमिका में उन्होंने यह व्यक्त किया है - "यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसती हूँ तथापि जैसे इस देश के ममतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसा ही दूसरे देशस्थ या मतोन्नतिवालों के विषय में बर्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को बर्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसा आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा हानि और बन्द करने की तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यता के बाहर हैं।"[1] उनके विचार में यह मनुष्य स्वभाव युक्त नहीं, किन्तु पशुता है।

"आर्यसमाज" की स्थापना सन् 1875 ई. में हुई। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह भद्र लोक के सीमित क्षेत्र में न रहकर विशाल जनता तक पहुँच गया। इसने समाज में व्याप्त अशिक्षा को दूर करने का प्रयत्न किया। इसका विश्वास था कि जब तक अछूत वर्ग शिक्षित नहीं होगा तब तक उसे उच्च वर्ग के समक्ष नहीं माना जायेगा। वे वैदिक धर्म में अटल विश्वास रखनेवाले थे। वैदिक युग में स्त्री को शिक्षा तथा विवाह का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। उसी प्रकार उन्होंने स्त्रियों की जागृति के लिए स्त्री शिक्षा पर बल दिया।

जब आस्तिक-नास्तिक, हिन्दू-ईसाई तथा मुसलमान अपने-अपने विश्वासों की सच्चाई पर वाद-विवाद करते रहे तब रामकृष्ण परम हंस का धार्मिक सुधारक के रूप में पदार्पण हुआ। उन्होंने सभी धर्मों के मूल तत्वों को अपने जीवन में साकार करके यह संदेश दिया कि सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर जानेवाले अनेक मार्ग हैं। उनके पदार्पण ने भारतीय जनता को यह विश्वास दिलाया कि भारत में धर्म की

---

1. स्वामि दयानन्द सरस्वती : "सत्यार्थ प्रकाश" - भूमिका - पृ:3

अनुभूति जगानेवाले जिन अनन्त ऋषियों और संतों की कथाएँ सुनी जाती हैं वे झूठी नहीं है।[1]

स्वामि विवेकानन्द ने सन् 1896 में "रामकृष्ण मिशन" की स्थापना कर सुधारवादी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया। उन्होंने मानवीय धर्म को महत्व देकर मानव समानता पर बल दिया और भारतीय संस्कृति के गौरव को ऊँचा उठाने का स्तुत्य कार्य भी किया।[2] उन्होंने इंगलैंड और अमेरिका आदि देशों की यात्राएँ कर हिन्दू धर्म के महत्व को विदेशियों के सम्मुख रखा।[3] नारी के प्रति उनका मत था कि वह जाति, जो नारी का सम्मान करना नहीं जानती, कदापि उन्नति नहीं कर सकती।[4]

इन धार्मिक सुधारकों के अतिरिक्त ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह का समर्थन किया तथा शिव दयाल द्वारा "राधा स्वामि सत्संग" शिव नारायण अग्निहोत्री द्वारा "देव समाज" राजा राधाकांत द्वारा "सनातन धर्म रक्षिणी सभा", गोपी मोहन देव द्वारा "रामधारी आन्दोलन", हृदयनाथ कुंजन द्वारा "सेवा समिति" आदि के प्रयासों से नवीन धार्मिकता का उदय हुआ। इन्हीं प्रयासों से बाल-विवाह, पर्दा का विरोध, मूर्तिपूजा के प्रति अनास्था बढ़ने लगी तथा अस्पृश्यता जैसी बुराईयों की जड़ें तो हिल ही गयी।[5]

---

1. "संस्कृति के चार अध्याय" - पृ:580
2. "He bodly proclaimed before the world the Superiority of Hindu culture and civilization and the greatness of Indian's past"- 'Indian History and Culture' - J.Fuste and I.R.Mehta - P.266.
3. "Swami Vivekananda revived the lost image of a great spiritual India not only among the people of India but also before the whole world" - 'Indian History and Culture'- P.266.
4. डॉ.ओम प्रकाश सारस्वत - "बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक" - पृ:35
5. अवधेश चन्द्र गुप्त - "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक विचार तत्व" - पृ:78

ईसाइयत की चंगुल से हिन्दुत्व की रक्षा करने के लिए परिश्रम करनेवालों में केवल भारतीय सुधारक ही नहीं रहे, बल्कि ईसाई महिला एनिबेसेंट का भी हाथ है। उनका कहना था कि भारत अपनी सब समस्याओं का हल सुगमता-पूर्वक कर सकता है बेशर्ते कि भारत अपने प्राचीन आदर्शों का पुनरुद्धार कर ले।[1]

सन् 1879 ई. में हेलन पेट्रोवनाष्लस्की तथा कार्नल ऑलकॉट के द्वारा भारत में थियासफीकल सोसायटी की स्थापना हुई। इस संस्था ने जाति-पाँति, उच्च-नीच, काले-गोरे के भेद-भाव का विरोध कर विश्व भ्रातृत्व की भावना को ऊँचा उठाया। आर्य समाज और ब्रह्म समाज दोनों ने केवल संशोधित हिन्दुत्व का समर्थन किया लेकिन ऐनिबसेंट ने वेद उपनिषद और गीता का ही हवाला नहीं दिया प्रत्युत स्मृति, पुराण, धर्म शास्त्र और महाकाव्य, जब जहाँ जो बात मिली सबके द्वारा हिन्दुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना आरंभ किया।[2]

थियोसफिकल सोसाइटी ने "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सन्देश के द्वारा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा की। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में स्थापित धार्मिक संस्थाओं ने पश्चिमी भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म और शिक्षा तथा अपनी निर्बलताओं से उत्पन्न बुराइयों को दबाने का उद्योग किया।[3]

देश में हुए सुधारवादी आन्दोलनों ने धर्म को नवीन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। फलतः धार्मिक दृष्टिकोण उदारवाद होने लगा। प्राचीन देवी-देवताओं की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गयी, जिससे धार्मिक उत्सवों में नई दृष्टिकोण जनता के सामने उपस्थित हुआ। समाज में प्रचलित धार्मिक रूढियों और बुराइयों को परखकर समयानुसार धार्मिक परंपराओं और मान्यताओं को परिवर्तित कर जनता के सामने रखा गया। धार्मिक दृष्टिकोण में आये इस परिवर्तन ने युगों से प्रचलित अंधविश्वासों और रूढियों के जंजीरों से समाज को मुक्त किया। वैज्ञानिक चिंतन ने अंधविश्वास के स्वस्थ अंश को तर्क प्रणाली का संबल प्रदान

---

1. लजपतराय गुप्त "बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन पृष्ठ - 23
2. संस्कृति के चार अध्याय - पृ:572
3. उदयभानु सिंह : "महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग"-भूमिका - पृ:7

करके समाज में उसे ग्राह्य रूप दिया। विज्ञान ने जादू टोने तथा अहितकारी क्रियाओं को धर्म से अलग करके उसे स्वस्थ तथा बुद्धिग्राह्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया।[1]

साहित्य समाज का दर्पण है। अतः समाज का प्रभाव साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक है। सुधार आन्दोलनों से प्रभावित होकर उन्नीसवीं शती में भारतेंदु हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन साहित्यकार भारत के प्राचीन संस्कृति गौरव एवं नैतिक चेतना को उद्बुद्ध कर उन्हें देश की स्वतंत्रता तथा पारस्परिक संप्रदायगत ऐक्य की ओर अग्रसित किया।[2] उन्होंने ऐतिहासिक पौराणिक घटनाओं के माध्यम से देश-भक्ति, समाज सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतंत्रता आदि को वाणी दी। उनके उपरान्त देवी प्रसाद शर्मा, राधाचरण गोस्वामि, कार्तिक प्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी आदि ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण कर शौर्य, प्रेम, चरित्र की उदात्तता आदि का परिचय दिया है।

उपन्यास की भांति देश प्रेम से ओतप्रोत नाट्य रचनाओं का भी सृजन हुआ है। भारतेंदु की "भारत दुर्दशा", "नीलदेवी" इसके अंतर्गत आते हैं। उनके समकालीन अन्य नाटककार भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके। इतिहास या पुराणों से उन्होंने वही कथा ली जो सामाजिक जीवन को अपने युग के प्रति सचेत कर सकी और समाज में जागृति उत्पन्न कर सकी। इस काल के प्रसिद्ध नाटकों में "कृष्ण सुदामा"(1870), "रुक्मिणी हरण"(1870), "दमयन्ती स्वयंवर"(1884), "ध्रुव तपस्या"(1885), "उषा हरण"(1887), "उद्धव वसिष्ठ नाटिका"(1887), "द्रौपदी वस्त्रहरण"(1890), "प्रद्युम्न विजय"(1893), "रुक्मिणी हरण"(1895), "अभिमन्यु वध"(1896), "सावित्री"(1900) आदि लिया जा सकता है।

धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों का प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा। युगचेता साहित्यकार अपने परिवेश से, परिवेश की समस्याओं से अनभिज्ञ न रह सकता। थोमस वार्टन ने ठीक ही कहा है कि युगचेतना का सही अंकन करने

---

1. "बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन" पृ:40
2. रमेश गौतम - "समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:9

की क्षमता साहित्य रखता है।[1] पौराणिक नाट्यधारा के प्रथम युग में भारतेंदु मंडल के नाट्यकारों के नाटकों में आक्रमणकारी विदेशियों से युद्ध की ललकार का स्वर प्रमुख रूप से सुनाई पड़ता है। देश की आन पर मर मिटनेवाले क्षत्रिय सैनिकों और सेनापतियों के जीवन की भूरी-भूरी प्रशसा की गयी है। विदेशी शासन के चंगुल में फँसे हुए अपने देश की दुर्दशा देखकर भारतेंदु और अन्य नाटककारों के भावुक हृदय तिलमिला उठते थे। जन साधारण में सत्य के प्रति अनुराग और कर्तव्यनिष्ठा की भावना जागृत करना भारतेंदु का मकसद था। उनका सर्वश्रेष्ठ जनप्रिय नाटक "सत्य-हरिश्चन्द्र" में एक राजा के सत्य पालन की व्याख्या की गयी है। डॉ. दशरथ ओझा की राय में इस नाटक में सत्य को भारत राष्ट्र का सबसे बड़ा धर्म सिद्ध किया गया है।[2] भारतेंदुकालीन नाटककारों ने पुराण का उपयोग अपने युग की आवश्यकताओं के अनुसार ही किया। राष्ट्रीय उद्देश्य की सृष्टि के लिए उन्होंने उन पौराणिक चरित्रों को आधार बनाया जो जनता में देशप्रेम की भावना जगाकर त्याग और बलि-दान का आदर्श उपस्थित कर सके। भारतेंदु की अंतिम इच्छा थी कि नाट्य साहित्य द्वारा समाज में व्याप्त कटुताओं और अंधविश्वासों का उन्मूलन किया जाय। इसके द्वारा देश-भक्ति का प्रसार और प्रचार किया जाय। नवीन जागृति के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन विषयों का प्रतिपादन करना उनका और उनके युग का मूल उद्देश्य रहा।[3] इस प्रकार इन नाटककारों ने अपने प्राचीन विस्मृत चरित्रों का स्मरण दिलाकर देश के आत्मगौरव को स्थापित करने का प्रयत्न किया तथा प्राचीन सांस्कृतिक और नैतिक आदर्शों का गुणगान भी किया।[4]

पौराणिक नाट्य धारा के द्वितीय युग में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन बहुत ज़ोर पकड़ रहा था। राष्ट्र की पराधीनता और अत्याचार का प्रभावशाली चित्रण करके अकर्मण्य जनता को जगाना नाटककारों का उद्देश्य था। डॉ. देवर्षि सनाढ्य की राय में "अत्याचार के चित्र खींचकर उनके विरुद्ध सूर्यनाद करने की आकांक्षा इस युग के नाटककारों में बड़े वेग से उमड़ी है। बदरीनाथ भट्ट के

---

1. "Literature has the paculiar merit of faithfully recording the features of the time" - Thomas Warten - 'Theory of Literature' P-103.
2. डॉ. दशरथ ओझा : "नाट्य निबंध" - पृ:24
3. रघुवीर दयाल वार्ष्णेय: "रंगमंच की भूमिका और हिंदी नाटक"-पृ:232
4. "समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:13

"वेन चरित" भगवन्नारायण भार्गव के "कीचक" तथा हरदेव प्रसाद जालान के "क्रूर वेन" में अत्याचारी वेन तथा कीचक के रूप में तत्कालीन राजनीतिक अत्याचारों का चित्र खींचना नाटककारों का प्रधान लक्ष्य रहा है।[1] इस युग में आते-आते पुराण के प्रति नाटककारों के दृष्टिकोण में कुछ बदलाव दृष्टिगोचर होने लगे। पूर्ववर्ती नाटककारों की आदर्शात्मक दृष्टि कुछ यथार्थात्मक बन गयी। विज्ञान का बढ़ता हुआ प्रभाव इसका एक कारण था। आधुनिक वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने दो विचार दर्शनों का जन्म दिया। प्रथम भौतिक समाजवाद, जिसका चरम विकास तथा वैज्ञानीकरण के आधार पर प्रतिष्ठान मार्क्स ने किया। द्वितीय डार्विन के जीवन विज्ञान से प्रभावित होकर सर्वप्रथम सिगमंड फ्रायड ने मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय व्यक्ति तथा उसका मस्तिष्क बतलाया है। विश्व की वैज्ञानिक प्रगति के परिणाम स्वरूप भारतीय मस्तिष्क को अपने पिछड़ेपन का समाधान ढूँढने के लिए वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति सर्वाधिक संतोषपूर्ण और विश्वसनीय मान पड़ी।[2] रामदरश मिश्रजी की राय में विज्ञान के आविष्कार और विकास ने ही आधुनिक युग के समस्त मूल्यों का निर्माण और विकास किया। धर्म का स्थान अर्थ ने ले लिया है, कल्पना का प्रयोग ने, नैतिकता का यथार्थ ने, भावुकता का बौद्धिकता ने।[3] नाटक में ही नहीं अन्य साहित्यिक विधाओं में भी यह परिवर्तन दिखाई पड़ता था। रामधारी सिंह दिनकर ने इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है पहले जब राम या कृष्ण के चरित्र लिखे जाते थे, तब उन्हें धर्म संस्थापक और दुष्कृत विनाशक ईश्वरावतार के रूप में चित्रित किया जाता था। यह विज्ञान का प्रभाव है कि अब वे समाज सुधारक लोक आराधक अथवा संशयग्रस्त मनुष्य के रूप में दिखाई जाते हैं।[4] नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी विज्ञान के इस प्रभाव की ओर संकेत किया है। उनकी राय में कवियों ने पुराने जीवन साँचे में नये राम-कृष्ण को नहीं नये जीवन साँचे में पुराने राम-कृष्ण को ढालना चाहा और ढाल भी लिया।[5]

---

1. देवर्षि सनाढ्य : "हिन्दी के पौराणिक नाटक" - पृ:173
2. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन - पृ:41
3. रामदरश मिश्र : "आज का हिन्दी साहित्य:संवेदना और सृष्टि" - पृ:12
4. रामधारी सिंह दिनकर "आधुनिक बोध" - पृ:30
5. नन्ददुलारे वाजपेय "आधुनिक साहित्य" - पृ:12

पौराणिक चरित्रों को तटस्थ दृष्टिकोण से परखने की परंपरा द्वितीय युग में शुरू हुई। इस युग में पौराणिक चरित्रों की मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठा होने लगी। पुराणों के उद्देश्य और स्वर्गस्थित चरित्रों को जन समुदाय अपने पास धरती पर अपनी अवस्था में देखना चाहता था। इस युग के अनेक पौराणिक नाटकों में यह दृष्टि आयी। पुराणों के देवताओं ने मानव के निकट आने का प्रयत्न आरंभ कर दिया।[1]

<u>राजनीतिक परिस्थिति</u> :-

स्वतंत्र भारत के राजनीतिक परिवेश ने आज के जीवन संदर्भों को सर्वाधिक प्रभावित किया। द्वितीय महायुद्ध और स्वतंत्रता प्राप्ति – ये दोनों घटनाएँ बहुत ही कम समय पर घटित हुई हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद अकाल तथा राजनीतिक अशान्ति के कारण संपूर्ण राष्ट्र में अव्यवस्था तथा अराजकता फैल गयी जिसको सरकार शीघ्र ही संभल न सकी।

स्वतंत्र भारत को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही मध्ययुगीन सामंतवाद का उच्छेदन भारत सरकार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। सारी रियासतें देश में सम्मिलित कर ली, लेकिन काश्मीर का प्रश्न नहीं सुलझ सका। इसे लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव बना रहा। इसकी विभीषिका सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध के रूप में परिणत हुई। सन् 1962 के चीन के आक्रमण ने भी भारत के ऊपर गहरा घाव लगा दिया। दोनों आक्रमण ने हमारी शांति नीति पर गहरा घाव पहुँचाया और हमारी आर्थिक स्थिति को जर्जर कर दिया। बढ़ती जनसंख्या और खाद्यान्नों का अभाव भीषण हो गया। इसने ग्रामोद्धार के लिए बनाये पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने में बाधा उपस्थित की। फलस्वरूप देश में चोर बाज़ारी, रिश्वत, मुनाफाखोरी, वस्तुओं में मिलावट आदि स्वार्थी और देश द्रोहियों की सामान्य प्रवृत्ति हो चुकी थी। कृत्रिम महंगाई भी आर्थिक भ्रष्टाचार के कारण बन गया। इसके फलस्वरूप विकास के मार्ग में बाधाएँ

---

1. "हिन्दी के पौराणिक नाटक" – पृ:175

उपस्थित होने लगीं। परिणामतः प्रजातंत्र के नाम पर होनेवाले प्रजा के ही शोषण तथा भ्रष्टाचार ने जन-मानस की आकांक्षाओं पर कुठाराघात किया। देशप्रेम की आड़ में अनेक व्यक्तियों ने जनता का गला घोंट कर अपने निहित स्वार्थ की पूर्ति की। देश में स्वार्थी नेताओं की संख्या बढ़ने लगी। गाँधीजी के सत्य, अहिंसा आदि ऊँचे आदर्शों को जनता भूलने लगी। परिणामतः छल कपट और झूठ में वृद्धि होने लगी। स्वतंत्रता के बाद जनतांत्रिक व्यवस्था को स्वीकार किया। लेकिन जो व्यक्ति अधिकार में आया वह अपनी कुरसी मज़बूत करने में लगा रहा। कमलेश्वर का यह कहना ठीक ही है कि "राष्ट्रीय क्षितिज पर अंधेरे की रेखाएँ खींचने लगीं संविधान ने जिस समाज-रचना का सपना सामने रखा था, वह मिटता दिखाई देता है, क्योंकि वे नेता, जो देश का भविष्य निर्माण करने के लिए उपस्थित थे, भ्रष्ट हो गये थे।..... राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, भाई-भतीजावाद, जातिवाद, प्रान्तवाद जैसे फोडे राष्ट्र के शरीर में एकाएक फूट पड़े और चारों ओर मवाद, सड़ते माँस और गंदे खून की महक भर गयी।"[1] वह देश की समस्याओं जैसे भ्रष्टाचार, महंगाई, बेकारी आदि को नारों बहसों में उलझाकर अपनी स्वार्थ में लगा रहा। भ्रष्टाचार वर्तमान राजनीति का एक सहज अंग बन गया। अवसर वादिता, स्वार्थ-परता, धन लोलुपता और अनैतिकता का बोलबाला हो रहा। हमारे भ्रष्ट और विषाक्त राजनीतिक परिवेश की स्पष्ट अभिव्यक्ति डॉ. चन्द्रशेखर के शब्दों में व्यक्त होती है - भ्रष्ट शासन जनघाती तंत्र, लुच्ची व्यवस्था, दोगली सिंहासन धर्मिता, बाह्य शक्ति का वंशानुगत ध्रुवीकरण, यह है हमारा कुल राजनीतिक पर्यावरण।[2]

वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक परिवेश विसंगतियों भ्रष्टाचारों और विकृतियों से भरा है। राजनीति की दौड़-धूप ने जीवन मूल्यों और सिद्धांतों तथा आस्थाओं के प्रति विरोधात्मक रुख अपनाते हुए अपने स्वार्थों तक ही व्यक्ति को सीमित कर दिया। व्यक्ति को मानव मूल्यों से अलग कर उसे ईर्ष्या, द्वेष और महत्वाकांक्षाओं के भावों में बाँध दिया। उसमें इस परिस्थिति के प्रति आक्रोश और विद्वेष की भावना अंकुरित कर दी, किन्तु शब्दों तक ही सीमित

---

1. कमलेश्वर : "नई कहानी की भूमिका" - पृः 14
2. डॉ. चन्द्रशेखर : "हिंदी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंग यात्रा" - पृः 14

रह गयी है।

तृतीय युग में आते ही पूर्ववर्ती युग की तटस्थ दृष्टि और भी तीव्र बन गयी। इस युग के नाटकों में पुराण का उपयोग पारंपरिक नाटकों की तुलना में नितांत विलक्षण ढंग से किया गया। पुराण के माध्यम से युगीन जीवन संदर्भ को विभिन्न पक्षों में उलट-पुलट कर रखने की कोशिश शुरू हुई। डॉ. नरनारायण राय ने इस परिवर्तन की ओर प्रकाश डाला है - इस युग में आकर ऐतिहासिक पौराणिक नाट्य लेखन की प्रचलित परंपरा में एक गंभीर प्रवृत्तिमूलक संशोधन हुआ। अब तक ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों का एक भाव या एक लक्ष्य होता था - गौरवमय अतीत की आवृत्ति प्रस्तुत करना। इसलिए घटनाएँ, चरित्र और आदर्श इन में मुख्य कथ्य होते थे। आज़ादी के बाद के हिन्दी नाटकों में आकर यह कथ्य ही बदल गया। आज नाटकों में इतिहास और पुराण का उपयोग इसी सीमा तक किया गया है, जिस सीमा तक वे अपने युग को व्यक्त कर सके।[1]

पौराणिक नाट्य रचना में सामयिक सृष्टि पर प्रकाश डालते हुए रमेश गौतम ने लिखा है - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में इतिहास, पुराण के प्रतीकत्व शक्ति को धर्मवीर भारती, जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, दुष्यन्त कुमार आदि नाटककारों ने प्रमुखता से स्थापित किया है। इन सभी नाटककारों ने पुराण को आज की पृष्ठभूमि में व्याख्यायित करने का प्रयास किया। अतीतोन्मुखता के बावजूद इन नाटककारों की कृतियों में युग बोध एवं परिवेश बोध का धरातल सतही नहीं अपितु गहराई के साथ संपृक्त करके प्रदर्शित किया गया है।[2]

****

---

1. विजयकांतधर दूबे (सं) : "हिंदी नाटक प्राक्कथन और दिशाएँ" - पृ:69
2. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:25

अध्याय - 3

पौराणिक नाटकों का वर्गीकरण - रामायण पर आधारित नाटक

अध्याय - 3

रामायण की महत्ता

"यावत्स्थास्यन्ति गिरियः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।" [1]

वाल्मीकी ने बहुत पहले कहा था कि जब तक महीतल पर पहाड़ और नदियाँ हैं तब तक लोक में रामकथा प्रचारित रहेगी। उनका यह कथन सौ फीसदी सत्य ही निकला। निःसंदेह कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ में मानव जाति को प्रेरणा देनेवाले जीवन-मूल्य भरे पड़े हैं जिनको अपनाकर हम मानव समाज का गौरव बढ़ा सकते हैं। रामकथा केवल भारत की ही नहीं अपितु विश्व की अत्यंत लोकप्रिय कथा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी की बोलियों, भारतीय भाषाओं तथा विश्व की अन्यान्य भाषाओं में रचनाकारों ने अपने देश-काल को प्रेरणा प्रदान करने के लिए राम कथा को विविध काव्य विधाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। दक्षिणपूर्व एशिया के प्रसिद्ध इतिहासकार कोडीज़ का कथन है - "बृहत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक दर्शक राम और सीता के कष्टों पर आज भी आँसू बहाते हैं।" [2]

हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्रीमती. इन्दिरा गाँधी ने रामायण की सार्वभौमिकता का विवरण देते हुए लिखा है "जब भी मैं इन्डोनेशिया या दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों में गयी हूँ, मैं ने रामायण महाकाव्य की सार्व-भौमिकता के दर्शन किये हैं। पिछले साल जावा में मैं ने जावा-जकार्ता के विद्यार्थियों और अन्य नागरिकों द्वारा प्रस्तुत रामायण की नृत्य नाटिका देखी थी। इसमें सभी पात्र मुसलमान थे, लेकिन रामायण के प्रति उनकी भावना हमसे किसी तरह कम नहीं थी।" [3] एस. सी. बानरजी की राय में रामायण ऐसी एक काव्य कृति है जिसपर भारतवासी बहुत अधिक गर्व कर सकते हैं। [4]

---

1. वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड - 2, 35-36
2. राधाकमल मुकरजी - भारत की संस्कृति और कला - पृ:63
3. विष्णु त्रिपाठी "मानस पंचामृत" - पृ:9।
4. 'Ramayana indeed is a marvellous piece of art which Indian can legetimately be proud of' S.C.Banerji - 'The Cultural Heritage of India'. Vol-V, P,54.

अखंड सतीत्व का दस्तावेज -
"अशोक वन बन्दिनी"

अनंत काल से लेकर भारतीय नारी अपने चरित्र की उदात्तता एवं महनीयता के लिए मशहूर है। पति के प्रति उनके मन में जो एकनिष्ठ, अडिग प्रेम और सेवाभाव है उससे प्रेरित होकर वह जीवन के राहों पर उपस्थित होने-वाली किसी भी कठिनाई को सहर्ष झेल लेने में तैयार हो जाती है। नारी चरित्र के इस गुण के मूर्तिमान रूप में सीता को उदयशंकर भट्ट ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

वैदेही भारतीय जीवन के परम उदात्त चरित्र की अनुगामिनी है। उसने राम के पीछे छाया की तरह अनुगमन किया। सुख-दुःख, हर्ष-शोक में वह सदा उनके साथ रही और राम के जीवन में जो कुछ घटनाएँ घटित हुईं उसका एक कारण वह स्वयं थी। राम के जीवन के बहुत से उतार-चढाव उसी के कारण हुई। फिर कभी ऐसा नहीं हुआ कि उसके कारण राम का उदात्त उत्कर्ष किसी भी तरह कम हुआ हो। वैदेही के कष्टों की कोई सीमा नहीं। राज प्रासाद में पलने पर भी अनन्त असहायता प्रभूत विवशता का दर्शन उसे करना पड़ा। जीवन में जो उपालंभ, लांछना, अपवाद एक नारी को मिल सकते हैं सभी उसे मिले। यहाँ तक राम के द्वारा भी उसे संदेह का भाजन बनना पड़ा। इतने पर भी उसका नारीत्व सदा अपूर्व तेजस्विता से चमकता रहा। दुःख क्लेशिता होते हुए भी उसका अन्दर स्फटिक की तरह निश्चल एवं सत्य की तरह अनाच्छन्न रहा है और यही कारण है कि वैदेही का चरित्र अपने भीतर से निखरा है। इसलिए उसने जन-जीवन के हृदय में अक्षुण्ण पवित्र स्थान बना लिया है। सीता के चरित्र की प्रशंसा करते हुए एस. सी. बानरजी ने सीता के पातिव्रत्य की मृत्युंजयी आस्था का दिग्दर्शन कराया है।[1]

वैदेही के प्रति नारी जनोचित सहज दृष्टि रखने की कोशिश नाटककार ने इसलिए अनुचित माना कि "उनके लिए ऐसा करना सीता के चरित्र

---

1. "Sita is the glowing example of chastity and high mindedness, the paragon of all domestic virtues".
S.C.Banerji, 'The Cultural Heritage of India' Vol-V, P.54.

का अपमान करना है, जैसे बुद्ध को किसी नारी के वश में करने की भावना या गाँधी को किसी प्रलोभन के वशीभूत करना।"[1] उदयशंकर भट्ट ने सीता के चरित्र की उदात्तता से प्रेरित होकर "अशोक वन बन्दिनी" का प्रणयन किया है।

इस गीति नाट्य का प्रारंभ जानकी के मानसिक द्वन्द्व से हुआ है। वह अशोकवन में बन्दी बनकर बैठी है। प्रिय विरह में दग्ध उसका मन प्रिय की स्मृति में लीन है। वह भूख प्यास त्यागकर चिंतामग्न होकर रात-दिन रोती रही। त्रिजटा ने उसे समझाने का परिश्रम किया, लेकिन उसका परिश्रम विफल हुआ। उसके मन में सीता के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई और वह सीता की अनुगामिनी बन गयी। रावण के आदेश से अन्य दो राक्षसियों ने भी जानकी को सताया जिससे कि विवश होकर वह रावण को अपनावे। परंतु कठिन दण्ड सहने पर भी जानकी अपने प्रण में दृढ़ है, इतना ही नहीं राम के प्रति उसका प्रेम और भी गहरा हो गया -

प्रेम गहन हो जाता है जलते प्राण में,
यही लिखा गया है प्रेमी भाग्य में।[2]

शक्तिशाली, अधिकार प्रमत्त लंकाधीश रावण भी सीता के एकनिष्ठ प्रेम के आगे पराजित हो गया। अपनी शक्ति-संपन्नता के प्रलोभन में न पड़ने पर कुछ हो वह जानकी को मारने के लिए उद्यत हो गया कि मंदोदरी ने आकर परस्त्री-हत्या से उसे रोका। इसके बीच हनुमान ने आकर लंकादहन का कार्य किया। लंकादहन का आरोप मंदोदरी ने जानकी की रूपराशि पर लगाया तो जानकी ने उसे समझाया कि यह लंका का दौर्भाग्य है, हो सके तो उसे रोक लो।

लंका की रक्षा के लिए मंदोदरी ने जानकी से प्राण-त्याग की भिक्षा माँगी। लेकिन पति-परायण जानकी अपने पति के आदेश के बिना प्राण-त्याग देने को तैयार नहीं है। उसने अपनी विवशता प्रकट की -

क्या मेरे हैं प्राण इन्हें तज दूँ, मरूँ?
बिना राम के देखे, आज्ञा के बिना?[3]

---

1. उदयशंकर भट्ट "अशोकवन बंदिनी तथा अन्य गीति नाट्य" किंचित् वक्तव्यम्
2. वही पृ:32
3. वही पृ:44

सीता की यह विवशता पतिव्रता नारी की विवशता है जिसने अपना सब कुछ अपने पति पर समर्पित किया है। अपने प्राण तक पर अपना अधिकार नहीं है। सीता की दृढचित्तता से मंदोदरी प्रभावित हो गयी और अपने पति के हित के अनुसार काम करने का उसने जानकी से वर माँगा।

इस गीति नाट्य में सीता के अखण्ड पतिव्रत धर्म के साथ-साथ उसके शील की दृढता को व्यक्त किया गया है। अशोक वाटिका में रहते वक्त उसने जो दृढता दिखाई वह बिलकुल सराहनीय है। उसके सामने दो मार्ग थे, रावण को स्वीकार करना या प्राण त्याग देना। चारों ओर से घेरकर बैठनेवाली राक्षसियों ने धमकी दी कि रावण का खड्ग उसके खून का प्यासी है, फिर भी सीता न डरनेवाली थी। सीता की स्वामि-भक्ति और उसके अटूट, अखण्ड निश्चय से भली-भाँति परिचित होकर त्रिजटा ने ठीक ही कहा -

रावण ही क्या निखिल शक्ति ब्रह्माण्ड की
इसको पथ से विचलित कर सकते नहीं।
कोमल तन में दृढता है पाषाण की
वज्र निर्मित मन, निर्मित तन कुसुम से।[1]

राजाज्ञा पाकर जानकी के शरीर पर घाव करनेवाली राक्षसियों ने देखा कि सीता के हाथों से, पीठ से रुधिर बह रहा है, अंगारों के दाग दिखाई दे रहे थे, फिर भी वह अपने प्रण में वज्र लीक-सी दृढ है। उनका कठोर मन भी पिघला, वे सब हार गयीं और कह रही थीं -

ऐसा कोई जीव नहीं देखा, अरी
जिसे मौत से भी डर लगता न हो।[2]

प्रेम की पवित्रता का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करनेवाली सीता कितना व्यापक दृष्टिकोण रखती है -

प्रेम देह का नहीं प्राण का योग है।[3]

---

1. अशोक वन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य - पृ:9
2. वही पृ:30
3. वही पृ:33

सीता ने अपने को राम से अभिन्न नहीं माना। उसने कहा -

उनके मेरे दो मन चिन्तन एक है।
× × × × × × × × × × × ×
दो शरीर में बहता जीव एक बन।
स्पन्दन जीवन का दोनों में एक ही -
होता सृजन वही मानव कल्पना का।[1]

सीता के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष इसलिए निखर पड़ा कि अपनी ज़िन्दगी में पड़ी बड़ी विपत्ति को कोसने के बदले उसे उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया -

रगडे जाने पर ही हीरक चमकता है,
तपने पर ही होता कंजन शुद्ध।[2]

इस गीति नाट्य में उदयशंकर भट्ट ने नारी को अबला नहीं माना। मंदोदरी और सीता के बीच में होनेवाली बातचीत में उनका यह दृष्टि-कोण व्यक्त हुआ है। जानकी ने मंदोदरी को समझाया कि नारी को साधारण नहीं मानना है, क्योंकि वह अजेय, अज्ञेय शक्ति की स्वामिनी है, उसके एक भ्रू कटाक्ष से निखिल विश्व विकल होता है और उसके संकेतों पर कई सुर असुर नाच चुके हैं उसकी रूपराशि से कई पागल हो चुके हैं। उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह पशुत्व देवत्व में मोड़ सकती है। नारी के विभिन्न चेहरों को मंदोदरी के सामने सीता ने यों प्रस्तुत किया -

वही शिवा है, वही भवानी, चंडिका,
दुर्गा है, वह खल-नर-अहं विमर्दिनी।
कौन कर्म है जो उससे संभव नहीं।[3]

दरअसल नाटककार ने सीता की जो मूर्ति खडी कर दी वह एक सर्व गुण-संपन्न, पति समर्पिता साध्वी पत्नी की मूर्ति है।

---

1. अशोक वन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य - पृ:५।
2. वही पृ: 32
3. वही पृ: 40

अनन्य प्रेम पर अड़िग नारी का आत्मोत्सर्ग -

"भूमिजा"

पौराणिक कथाओं के प्रति विभिन्न लेखकों के विभिन्न दृष्टि-कोण हैं। पौराणिक पात्रों की आदर्श-प्रियता कुछ लेखकों को भाती है तो अन्य कुछ लेखकों की पैनी दृष्टि इस आदर्श-प्रियता की ज्वाला में पड़कर झुलसनेवाली कुछ निरीह आत्माओं पर पड़ती है। यही कारण है कि सर्वदानन्द ने 'भूमिजा' में सीता को केन्द्र बिन्दु बनाया, जिन्होंने अपने पतिदेव की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मौन आत्मोत्सर्ग किया।

पौराणिक पात्रों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन कर उन्हें मानवीय स्तर पर प्रस्तुत करना नाटककार का लक्ष्य रहा। सर्वदानन्द की दृष्टि राम के आदर्श और महानता के पीछे छिपे हृदय की धड़कन पर पड़ी, जिसपर अभी तक किसी का ध्यान न रहा। नाटककार के शब्दों में यह स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने नाटक के निवेदन में यह व्यक्त किया है कि "राम का एकान्त पश्चाताप और कष्ट भोग अपने में स्वाभाविक है, किन्तु सीता की इस आत्मग्लानि के प्रति उदासीनता, दो बार के कटु अनुभवों के बाद दिखाये बिना मेरी समझ से करुणा-निष्पत्ति संपूर्ण नहीं होती।"[1]

नाटक की कथावस्तु सीता परित्याग और सत्रह वर्ष के पश्चात् वाल्मीकि के आश्रम में सीता तथा उसके पुत्रों से होनेवाली भेंट पर आधारित है। डॉ. (श्रीमती) रीताकुमार के अनुसार नाटककार ने "सीता के परित्याग को महिमा में न जकड़कर एक नारी की व्यथा, तिरस्कार के विरोध और अधिकार के प्रश्न को मुखरित किया।"[2] सीता के चरित्र पर एक धोबी की संशय-दृष्टि देखकर वसिष्ठ के कहे अनुसार राम ने सीता के परित्याग का निश्चय किया। सीता पर यह आरोप जानकर तथा राम का यह निर्देश सुनकर कि सीता को वन में छोड़ दे, सभी राज-परिवार खिन्न हो गये। माता कौसल्या का दया के लिए फैला आँचल और

---

1. सर्वदानन्द : "भूमिजा" - निवेदन - पृ: 7-8
2. डॉ (श्रीमती) रीताकुमार - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में" - पृ: 145

भाइयों का रुदन भी राम को अपनी प्रतिज्ञा से नहीं हटा पाया क्योंकि "राम का धन उसका निर्मल यश है। प्रजा रंजन उसका एकमात्र कर्तव्य है।"[1] प्रजा की माँग की पूर्ति राजा का आदर्श है। राम के कर्तव्य के द्वारा सर्वदानन्दजी ने एक पुरुष की यश-लिप्सा पर प्रश्न चिह्न लगाया है जो अपने महत्व दिखाने के लिए अपनी स्त्री को निरपराध होने पर भी दण्ड दे दिया है। सीता, जो भारतीय नारी का प्रतीक है, निर्दोष होते हुए भी चुपचाप अपने अधिकार को त्यागकर, इस विचार से कि पति के कर्तव्य के मार्ग पर बाधा न हो, वन चलने लगी और उसने कहा - "राम की मर्यादा का इतिहास सीता के कारण कलंकित नहीं होगा। मलिन न हों। राम की पूजा घर-घर में होगी और उसके साथ ही मूल्य पायेगा मेरा मौन उत्सर्ग।"[2]

सत्रह वर्ष के बाद राम अश्वमेध यज्ञ करने की तैयारियाँ करने लगे। यागाश्व सभी प्रान्तों में घूमकर वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचा। सीता के पुत्र लव-कुश और राम के सैनिकों के बीच युद्ध हुआ, जिसमें राम के सैनिक पराजित हो गये। राम आश्रम में पहुँचे और वहाँ उनकी सीता और पुत्रों से भेंट हो गयी। लेकिन निर्दोष और सती साध्वी माँ को घर से निष्ठुर की भाँति वन में त्यागने-वाले व्यक्ति को पिता के रूप में स्वीकार करने के लिए लव और कुश तैयार नहीं थे। अपने विचार को कुश ने राम के सम्मुख प्रकट किया - "आप चक्रवर्ती सम्राट हों किन्तु माँ की गरिमा के सामने आपका साम्राज्य तुच्छ है, नगण्य है।"[3] पश्चाताप से भरे राम ने अपनी पत्नी तथा पुत्रों को वापस ले जाना चाहा। लेकिन वाल्मीकी के कहने पर भी सीता ने राम के साथ जाना अस्वीकार कर दिया। उसके मन में वर्षों से संचित दुःख और मर्यादा के प्रश्न पर होनेवाले तिरस्कार की प्रतिक्रिया उभर आयी। उसका आत्मसम्मान गूँज उठा - "नारी की कोमलता को निर्दयता से पाँव से कुचलकर सक्षम नर गौरव के शिखर पर चढ़ेगा?

पुरुष के आगे परीक्षा लेते रहने में ही स्त्री जीवन की चरम सार्थकता होगी?"[4] नाटककार का लक्ष्य भी सीता के चरित्र के इसी आत्म सम्मान को

---

1. "भूमिजा" - पृ:21
2. वही - पृ:52
3. वही - पृ:84
4. वही - पृ:90

सुरक्षित रखना था। भूमि की इसी पुत्री को अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए भूमि की शरण लेनी पड़ी। सीता के माध्यम से नाटककार ने पुरुष के अनियंत्रित आचरण को कटघरे में खड़ा करने का प्रयास ही किया है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में पुराण का वह स्वरूप लुप्त हो गया जो पहले के नाटकों में दृष्टिगत हुआ था। नये प्रसंगों के अन्वेषण में पड़े हुए नई धारा के नाटककारों की वैयक्तिक अभिरुचि के अनुसार ही पुराण का उपयोग हुआ। इन्होंने पुराण को आधुनिक ढंग से देखा और उसकी शर्तों पर उसका प्रयोग किया। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में पुराण की प्रतीकत्व शक्ति को कई नाटककारों ने प्रमुखता से स्थापित किया है। पुराण के प्रतीकों के आन्तरिक भाव बोध को सक्रिय युग चेतना से संपृक्त करके प्रस्तुत करना, दरअसल एक नई प्रवृत्ति है, पर प्रवृत्तिगत प्रयोग के मोह में पड़कर, आदर्श पौराणिक चरित्रों पर लाँछन लगाना बिलकुल अन्याय है। सीता परित्याग को लेकर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम चन्द्रजी के चरित्र पर लगे हुए कलंक को धो डालने की कोशिश एकाध नाटककारों ने की हैं। लेकिन कुछ नाटककारों के लिए निरपराधी, निर्दोषी पत्नी को गर्भावस्था में वन छोड़ना बिलकुल अमानवीय कार्य है। सर्वदानन्द ने "भूमिजा" में राम के चरित्र के इस कमज़ोर पक्ष को उभारा है। नाटक में सीता का चरित्र राम से अपेक्षाकृत ऊँचा उठ गया है। इसे दोष की बात न समझते हुए नाटककार ने लिखा है - "बालि का वध, तपस्वी शंबूक की हत्या, विभीषण से भ्रातृ द्रोह कराना, निष्कलंक सीता के प्रति राम के व्यवहार और ऐसे ही अन्य कितने ही छोटे-बड़े कार्य सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत मर्यादा की सीमा में "मर्यादा पुरुषोत्तम" की संज्ञा पानेवाले के लिए नहीं आते।"[1]

नाटककार सीता परित्याग को कभी न्याय संगत सिद्ध न कर सका। तपोवन दिखाने के बहाने उसे महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ना बड़ा छल था। यह परित्याग नारी के विश्वास पर पुरुष के अविश्वास की विजय है, पुरुष के संदेह की शिला पर स्त्री के निर्मल विश्वास को सिर धुन-धुनकर रोना पड़ा। नाटककार की स्पष्ट धारणा तो यही है कि "प्रजा के, एक साधारण जन के कहने

---

1. भूमिजा - पृ:8

पर राजा, रानी का परित्याग क्षमा करने योग्य नहीं।"[1] पुरुष वर्ग को अपनी मर्यादा प्यारी है, राजकाज देखना है। अपने वंश का मुख उज्ज्वल रखने के प्रयास में डूबे हुए इन पुरुषों ने नारी की व्यथा को नहीं पहचाना । नाटककार की यह शिकायत लक्ष्मण के शब्दों में मुखरित है - "महाराज की प्रशंसा के कोलाहल में सीता का मौन उत्सर्ग लोग भूल जायेंगे।"[2]

सीता परित्याग को लेकर रामचन्द्र पर आरोप लगाते वक्त भी नाटककार ने राम के इस निश्चय के पीछे कार्यरत उनके लक्ष्य को छिपाया नहीं। राम ने भगवान् वसिष्ठ को वचन दिया था - "प्रजा की सेवा के लिए अपने हृदय की दया, ममता, क्षमता सब कुछ बलिदान कर देंगे।"[3] राम ने कभी भी अपने सुख-संतोष को प्रजा के सुख-संतोष से बड़ा नहीं माना। दुर्मुख को अपने गुप्तचर के रूप में नियुक्त करते वक्त राम ने कहा - दुर्मुख, प्रजा की भावना जाने बिना शासन नहीं चल सकता। प्रजा को विश्वास होना चाहिए कि राम उसकी भावना का आदर करता है। बड़े से बड़े त्याग प्रजा के सुख के लिए राम कर सकता है। महाराज रामचन्द्र के लिए कुछ भी अजेय नहीं, प्रजा संतुष्ट हो।[4]

नाटककार ने सीता के चरित्र को राम से अपेक्षाकृत ऊँचे उठाने की कोशिश की है। फिर भी राम के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष फीका नहीं पड़ा।

भारतीय संस्कृति विराट मानवता के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, रागों को संकुचित एवं असद् मानकर उनके त्याग की ओर सतत् प्रेरणा देती है। यह त्याग जीवन का नहीं अपितु व्यक्तिगत स्वार्थों से जुड़ी प्रवृत्तियों का होना है जो मानव को अपेक्षाकृत अति आदर भावों के संचय से संकुल जीवन की विराट भूमि पर ले जाता है। सर्वदानन्द का राम ने भी त्याग तत्व को जीवन में सर्वोपरि माने हैं। इसे सहज रूप से स्वीकार किया है - "किन्तु समाज की मर्यादा व्यक्ति के सुख से बड़ी वस्तु है। प्रजा की इच्छा राजा के लिए

---

1. भूमिजा - पृ: 2
2. वही - पृ: 27
3. वही - पृ: 21
4. वही - पृ: 33

अतर्क्य है। सीता कौन है? मैं कौन हूँ? समाज से ऊपर व्यक्ति नहीं होगा। समाज के चरणों में व्यक्ति के सुख-संतोष की बलि चढ़ेगी। व्यक्ति के निजत्व के रक्त से ही समाज के मुँह की लाली रहेगी। राम अपने हृदय पर पत्थर रखकर भी इस महासत्य की परीक्षा करेगा।"[1]

राम के चरित्र की स्थायी प्रकृति - पितृभक्ति - का परिचय नाटक में मिला। अपनी पत्नी कैकेयी को दिये गये वचन पर अटल रहे पिता से ही उन्होंने सीख लिया कि "कर्तव्य के पथ पर फूलों का पराग ही नहीं व्यसन का खेद भी होता है।"[2] पिता के वचन की रक्षा के लिए सबसे बड़ा त्याग जिस राम ने किया था उन्होंने भावावेश में सीता परित्याग नहीं किया बल्कि अपने गुरु को दिये वचन का पालन करने के लिए, प्रजा के प्रति कर्तव्य निभाने के लिए सीता को छोड़ दिया।

नाटककार ने प्रजा के हितार्थ अपने पवित्र कर्तव्य का पालन करनेवाले राम की गहन अन्तर्वेदना की भी अभिव्यक्ति दी है - "तब फिर ले लो यह सब राजपाट, भरत! मुझे नहीं चाहिए यह राज महल, नहीं चाहिए अयोध्या का रिक्त राज सिंहासन। मुझे मेरी सीता लौटा दो। मैं उसे लेकर चला जाऊँगा। दूर कहीं दूर जहाँ संशय की छाया न हो, संदेह जहाँ का नियम न हो। लोकापवाद जहाँ की साँस में घुलकर उसे विषाक्त न बनाता हो।"[3] राम का मौन एकांत हृदय को चीरकर जो हाहाकार निकल रहा था, वह नाटक में गूँज उठा।

नाटक के सृजन के मूल में अपना उद्देश्य खुद नाटककार ने नाटक की भूमिका में व्यक्त किया है - "प्रस्तुत नाटक में सीता के प्रति दर्शकों में करुणा जगानी है।"[4] ऐसे उद्देश्य से प्रेरित नाटककार की सीता का स्वरूप परंपरा से चली आनेवाली सीता के स्वरूप से भिन्न है। पुरजनों से और अपने पति से विदा लेते वक्त तनिक भी विचलित नहीं हुई। इसलिए कौसल्या ने पूछा - "तेरे मुख पर तो इस आँधी की छाया भी नहीं। इतना विष तू पी सकती है?"[5] सीता का

---

1. भूमिजा - पृ: 45
2. वही - पृ:40
3. वही - पृ:42
4. वही - पृ:8
5. वही - पृ:49

हर एक वचन व्यंग्य से भीना है। विदा के समय जब राम उसके पास आया, उसका कहना है - "मुझे छूना नहीं, मेरे शरीर के काजल से तुम्हारे हाथ काले हो जायेंगे देवता। अकल्याण की धूम शिखा सी मैं केवल तुम्हारे जीवन में अंधकार ही बिखेरने आयी थी। मेरे चरित्र ने तुम्हारी मर्यादा को बार-बार कसौटी पर रखा है स्वामी। अब यह अमंगल की अमावस्या सदा के लिए दूर होने जा रही है।"[1] अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए नाटककार ने सीता का जो चरित्र रखा है वह एक हद तक अविश्वसनीय लगा। विदा प्रसंग में सबको रोते हुए देखकर रोना बन्द करने को यहाँ तक कि अपने पति से एक बार हँसने को कहनेवाली सीता के चरित्र में कुछ अस्वाभाविकता है - "हँसो स्वामी। क्या विदा के समय भी तुम्हारी हँसी मुझे न मिलेगी?"[2] सीता के चरित्र को ऊँची श्रेणी में प्रतिष्ठित करके नाटककार ने शायद यही दिखाना चाहा कि धरती की तरह सब कुछ सहने की क्षमता उसमें है, वह भूमिजा है। वाल्मीकि आश्रम में भी सीता के अन्तस्थल की विद्रोहिणी नारी ने रह-रहकर सिर उठाया। उसके मन में सदा के लिए यह दुःख छाया हुआ है कि वह एक ऐसी नारी है जिसे नर ने हाथ पकड़कर घर से निकाल दिया।[3] उसे इस बात में बहुत दुःख है कि अपने दोनों बेटों को अपने पिता का नाम भी नहीं मालूम है - "इतना बड़ा दुर्भाग्य संसार में किसी माँ को होगा?"[4]

सत्रह वर्ष की अवधि के बाद दण्डकारण्य में राम से सीता का पुनः मिलन हुआ तब भी सीता ने राम के प्रति व्यंग्य बाण छेड़ा - मर्यादापुरुषोत्तम राम स्त्री के स्नेहपाश में बाँधकर प्रजा की उपेक्षा करेंगे? सूर्यवंश का इतिहास नारी के रक्त से लिखा जायेगा और वह नारी होगी सीता। दया, माया, ममता तुम्हारे लिए खेल है देवता।"[5] क्षमा की भीख माँगनेवाले राम से उसने कहा - प्रेम व्यवसाय नहीं आर्यपुत्र। तुम राजनीति की तुला पर रमणी का प्रेम तौलना चाहते थे, पर ठग गये। ..... अकल्याण की प्रतिमा को एक दिन प्रजा के लिए

---

1. भूमिजा - पृः50
2. वही - पृः52
3. वही - पृः61
4. वही - पृः70
5. वही - पृः86

हाथ पकड़कर घर से निकाल दिया था, आज क्यों उसे आदर के साथ उसी घर में ले जाने का आयोजन कर रहे हो?"[1]

सर्वदानन्दजी की सीता अपमानित होकर फिर और एक बार उसी घर में लौट जाना नहीं चाहती, जहाँ से अपना काला मुख लेकर वह चली आयी थी। अतः उसने अपने प्रेम के धरोहर लव-कुश को राम के हाथों में सौंप दिया और वह माँ धरित्री की गोद में लीन हो गयी।

****

---

1. भूमिजा - पृ 87-88

नारी के आत्मसम्मान की एक झलक-

"उर्मिला"

पुराण के कुछ पात्रों के प्रति लेखकों के मन में उपेक्षा की जो भावना थी वह धीरे-धीरे कम होती गयी। कवीन्द्र रवीन्द्र, महावीर प्रसाद - द्विवेदी जैसे यशस्वी विभूतियों ने "काव्येतर उपेक्षिता", "कवियों की उर्मिला-विषय उदासीनता" आदि की रचना कर इन उपेक्षित पात्रों के प्रति लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने प्राचीन साहित्य में उपेक्षित कुछ पात्रों के बारे में जो लेख लिखा उनमें उर्मिला की भी चर्चा थी। रवीन्द्र के इस लेख से नाटककार को "उर्मिला" लिखने की प्रेरणा मिली।[1]

कथा का आरंभ राम-राज्याभिषेक प्रस्ताव से तथा इसका अंत चौदह वर्ष के बाद राम के पुनः राज्याभिषेक और रामाज्ञावश लक्ष्मण के अयोध्या त्याग में होता है।

पिता के वचन पालनवश श्रीराम तथा सीता लक्ष्मण के साथ वन चलने की तैयारी में रत है। लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला अपने पति के अंतिम मिलन का राह देख रही है। अपने आत्माभिमान ने उसे पति के पास जाने से रोक लिया "नहीं मैं नहीं जाऊँगी। मैं अभी तक अपना आत्माभिमान खो नहीं बैठी हूँ"[2] - कहकर वह अपने कमरे में खड़ी रही। इसका परिणाम यह निकला कि उनका अंतिम मिलन न हो सका। वन की ओर लिवा लेते समय केवल सीता से उसका मिलन हुआ। उसके प्रति लक्ष्मण की विमुखता ने उसे अधिक दुःखी बनाया।

उर्मिला को दुःखी देखकर दासी से न रहा गया। वह इसकी सूचना देने के लिए कौसल्या का महल गयी जहाँ पुत्र-वियोग से दग्ध राजा दशरथ शय्या में पड़े हैं। कौसल्या तथा सुमित्रा उनकी देख-भाल में निरत हैं। शय्या में पड़े होकर दशरथ अपनी युवावस्था में मुनिकुमार-वध से उसके अंधे माता-पिता से

---

1. पृथ्वीनाथ शर्मा - "उर्मिला" - दो शब्द
2. वही पृ 36

मिले शाप के बारे में कह रहे थे। राजा के मुँह से शाप की कहानी सुनकर अपनी सपत्नी कैकेयी के प्रति विरोध की जो भावना इन दोनों के मन में हुई है, उसे दूर करना शायद लेखक का उद्देश्य होगा। पुत्र-वियोग को नियति पर छोड़कर कैकेयी की गलती को लेखक कम करता दीख पड़ता है।

दासी से उर्मिला की दयनीय अवस्था जानकर सुमित्रा तथा कौसल्या अतीव दुखी हो गयीं। पति की देख-भाल कौसल्या पर छोड़कर सुमित्रा अपनी पुत्र-वधु के पास आयी और उसने अनजाने हुई अपनी विमुखता के लिए माफी माँगी। अंतिम मिलन के लिए लक्ष्मण का न आने की जानकारी सुमित्रा को भी न थी। यदि वे मानतो तो पुत्र को इसके लिए विवश करती। लेकिन उर्मिला ने तो अपनी माँ की अनजानेपन के लिए ईश्वर को धन्यवाद दिया, क्योंकि उसके विचार में यह मिलन लक्ष्मण के पाँव की बेड़ियाँ बन जायेगी। अपने पति के न आने के का उसने कारण ढूँढ़ निकाला - "पति की भावुकता और माता को समझाया भी है। साधारण रूप से कोई भी स्त्री अपने पति को अपराधी ठहराना नहीं चाहती। यहाँ उर्मिला ने भी अपने पति के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके अपराध को कम करने का प्रयास किया है। उसने पति की राह में बाधा बनना नहीं चाहा। इस उद्देश्य से उसने लक्ष्मण के चाहने पर भी चित्रकूट में उनसे मिलने के बाद वन में ठहरना नहीं चाहा। उसे भय लगा कि उसका सामीप्य शायद लक्ष्मण को अपना कर्तव्य निबाहने में बाधा हो जाय। यहाँ उर्मिला के माध्यम से भारतीय नारी की गरिमा व्यक्त हुई है। भरत, माताएँ तथा अन्य अयोध्यावासियों के साथ वह अयोध्या लौट आयी। अयोध्या लौटकर वह अपनी मनमानी पर पश्चाताप करने लगी क्योंकि वन की सुन्दरता ने उसे भावुक बना दिया है। लेकिन सुमित्रा के उपदेश ने उसे इस भावुकता से मुक्त किया।

इधर चित्रकूट से लौट आकर भरत मुनि जैसा निर्मोही जीवन बिता रहा था। अपने भाई को वन से लिवा लाने के परिश्रम में विफल होने पर भरत उनकी पादुकाओं को गद्दी पर रखकर राज-काज चला रहा था। इस कारण माण्डवी भी उर्मिला के समान विरह वेदना में जीवन बिता रही थी।

चौदह वर्ष के वनवास के बाद सीता के साथ राम तथा लक्ष्मण अयोध्या लौट आये। लक्ष्मण के आते समय भी उर्मिला के आत्माभिमान ने उसे पति के पास जाने से रोका और अंत में लक्ष्मण ने उसके पास आकर उसके आत्माभिमान की रक्षा की। उसने अपने पति से आगे कभी भी अपने कर्तव्य के कण्टकाकीर्ण राह पर चलते वक्त अपने प्रति विमुखता न दिखाने का वादा किया। लेकिन बाद में लक्ष्मण अपना यह वादा तोड़ने के लिए मज़बूर हो गया। ब्रह्माजी के संदेश लेकर आये तापस दूत ने यह आशा प्रकट की कि महाराज राम उसका संदेश एकांत में सुनें। यदि तीसरा कोई इसे सुने तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाय। राम ने लक्ष्मण को द्वारपालक का काम सौंपा और कहा कि उसके कहे बिना किसी को अन्दर आने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। इसी वक्त ऋषि दुर्वासा वहाँ पहुँचे और उन्होंने राम को देखने की इच्छा प्रकट की। लक्ष्मण ने अपनी विवशता व्यक्त की। लेकिन ऋषि उसे मानने को तैयार नहीं थे। उन्होंने लक्ष्मण को धमकी दी कि यदि जल्दी ही राम का दर्शन न संभव हो तो राम तथा अन्य परिजनों के नाश का शाप दे दें। ऋषि दुर्वासा के शाप से अपने भाई तथा परिजनों की रक्षा करने के लिए उसे रामचन्द्र की आज्ञा को भंग करना पड़ा। फलस्वरूप उसे अपनी पत्नी से कहे बिना एक बार फिर अयोध्या छोड़ देना पड़ा। दासी के मुँह से लक्ष्मण के अयोध्या-त्याग का समाचार सुनकर पति के अंतिम मिलन से वंचित उर्मिला विरह की चरम सीमा - महा मूर्च्छा - की क्रोड़ में चली गयी।

उर्मिला का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक है, वह नारी-जीवन की सहन-शीलता एवं सम्मान भावना की जीवित प्रतिमा है।[1] उर्मिला के अंतिम वाक्य ने - "अनंत वर्षों के सहवास के अनन्तर क्या मैं अंतिम मिलन की अधिकारिणी भी न हो सकी?" - उसके मन की वेदना को मूर्त रूप दिया। यहाँ उसके नारी सम्मान और उद्दाम वियोग दुःख निराशा में बदलकर हाहाकार कर उठा है।[2]

---

1. डॉ. रणधीर उपाध्याय "हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन" - पृ:66
2. देवर्षि सनाढ्य "हिन्दी के पौराणिक नाटक" - पृ:18।

नाटककार जिस युग में जी रहा है उस युग के सबसे बड़े अभिशाप - याने धन, यश और अधिकार के लिए मानवता को रौंदकर स्वार्थपूर्ति में लगाना - को उन्होंने खुद महसूस किया हैं। उनका सबसे बड़ा दुःख यही है कि व्यक्ति नैतिक मूल्यों से बहुत दूर चला जा रहा है। ऐसे मानव के लिए रघुकुल के भ्राताओं का आदर्शपूर्ण जीवन पथ-प्रदर्शन कराने में बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। जब भरत ने श्रीराम के चौदह वर्ष के लिए वन में रहने की घोषणा की तो उर्मिला का कथन है - "यह रघुकुल भी अद्भुत है क्या राम, क्या भरत, क्या आर्यपुत्र एक से एक निराले हैं। जिस वस्तु के सहस्रांश के लिए रक्त की नदियाँ बह जाती है उसे निःसंकोच पाँव से ठुकराते चले जाते हैं। नैतिक जीवन का इतना ऊँचा स्तर आज कहाँ मिल सकता है।"[1] उर्मिला के इस कथन में खुद नाटककार का एक प्रश्न-चिह्न ही उभर आया है, क्या भौतिक सुख-सुविधाओं से संपन्न इस वैज्ञानिक युग में उच्च स्तर के नैतिक मूल्यों की कोई महत्ता है? दशरथ सुतों ने जो आदर्श दुनिया के सामने रख दिया था वह अद्वितीय है। राज्य और अधिकार को दो कौड़ी की चीज़ मानकर ठुकरा देना कोई हँसी खेल नहीं। बड़े से बड़े देवता भी इतने महान लोभ का शायद संवरण न कर सके हैं।

चँद सिक्कों के लिए भाई-भाई के बीच गलेकाट व्यवहार आज मामूली-सी घटना हो गयी है। ऐसे गुमराह व्यक्तियों के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी का चरित्र अनन्त प्रेरणा का संवाहक है। भरत ने ननिहाल से लौटकर जब राम, लक्ष्मण का जटा वल्कल धारण कर वन में चले जाने का समाचार सुना तो उसका हृदय शोक से विकल हो गया और उनसे मिलने के लिए सेना सहित वन में आया। लक्ष्मण ने यह समझाते हुए कि भरत शत्रु भाव से आ रहे हैं, उसका नाश करने के लिए अपने धनुष और बाण हाथ में ले लिया तो श्रीराम ने उन्हें समझाया - "यदि भरतजी का वध करके मैं राज प्राप्त कर भी लूँ तो ऐसे अपवादयुक्त राज्य को लेकर मैं करूँगा ही क्या? जो धन बन्धु बाँधओं तथा इष्ट मित्रों को वध करके प्राप्त हो वह विषमिश्रित भोजन के समान है। मुझे तो ऐसा धन नहीं चाहिए। ससागरा पृथ्वी का राज हस्तगत लेना मेरेलिए दुर्लभ नहीं पर अधर्मपूर्वक मैं इन्द्र पद भी नहीं चाहूँगा।"[2]

---

1. पृथ्वीनाथ शर्मा "उर्मिला" - पृ:28
2. वही पृ:35

ब्रह्माजी के दूत के साथ राम का एकांत में वार्तालाप करते वक्त पहरी का काम करनेवाले लक्ष्मण इसलिए दुविधा में पड़ गया कि उस समय उधर पहुँचे दुर्वासा ऋषि के आगमन की सूचना राम को न दिये जाने पर समस्त अयोध्या को, राम, भरत, शत्रुघ्न और उनकी संतानों को शाप देने की धमकी दुर्वासा ने दी थी। लक्ष्मण जानते थे कि मुनि-आगमन की सूचना राम को देने से वह मारा जायेगा। दूसरों के सर्वनाश देखना उसने नहीं चाहा। इसलिए उसने अपने प्राणों की परवाह किये बिना मुनि-आगमन की सूचना महाराज को दी। परिणामतः राम ने उसे त्याग दिया। अपने प्राणों की बलि देकर भी दूसरों की खुशी चाहनेवाले लक्ष्मण का चरित्र अवश्य ही आज के लोगों का पथ-प्रदर्शन करेगा।

****

एकनिष्ठ भक्ति का उज्ज्वल प्रतिमान -

"शबरी"

आज के प्रगतिशील युग में शबरी का आख्यान जितनी प्रासंगिक और संदर्भानुकूल है उतना राम काव्य के गौण पात्रों में किसी अन्य का नहीं। यही वह पात्र है जिसके चरित्र ने हिन्दु समाज की सहिष्णुता, उदारता का साक्षात्कार कराया है। वैसे भी संपूर्ण राम काव्य सामाजिक चेतना के प्रमुख एवं प्रबुद्ध स्वरों से परिपूर्ण है। समूची राम कथा सामाजिक धरातल के यथार्थ से जुड़ी हुई है। शबरी की कथा इसका प्रमाण है। वस्तुतः राम कथा अपने समय से आगे बढ़कर प्रगतिशील सामाजिक चेतना की वाहक बन गयी। शबरी ने अपनी जन्मजात निम्न वर्गीयता को कर्म दृष्टि के द्वारा वैचारिक ऊर्ध्वता में परिणत किया है।

"शबरी" का आधार वाल्मीकि रामायण है। शबरी की भगवद् भक्ति को प्रस्तुत करने के साथ-साथ राजनीतिक पहलू को भी चित्रित करना नाटककार का लक्ष्य रहा। स्वयं नाटककार ने नाटक की भूमिका में यह व्यक्त कर दिया है - नाटक को राजनीतिक छाया सहित पौराणिक नाटक" का विश्लेषण दिया है।[1]

ऋषि मतंग तथा उनका शिष्य बोधायन एक दिन अचानक उस स्थल पर पहुँचे जहाँ शबर-पल्ली के सरदार गोमंगो अपने साथियों के साथ द्विवार्षिक कर्ज उत्सव के अंतिम दिन दुल्हा देवता के अनुगढ पुतले के आगे जलते हुए अग्निकुण्ड के चारों ओर घूम-घूमकर नृत्य कर रहा था। अपनी पूजा में बाधा डालने के कारण उन्होंने ऋषि और शिष्य को दण्ड देने के लिए घेर लिया। अचानक शबरी वहाँ पहुँची। उसने अपनी कहानी सुनाकर कोला और अरसी को प्रभावित किया और अनुनय-विनय करके ऋषि और शिष्य को छुड़ा लिया। गोमंगो के आने पर, जो इस बीच कहीं चला गया था उसने शबरी को पकड़ लेने का आदेश दे दिया।

---

1. सीताराम चतुर्वेदी - "शबरी" - भूमिका

गोमंगो का आदेश पाकर शबरी को ढूँढ निकालने के लिए कोला क्रौंचारण्य के पथ आया और शबरी को पकड़कर गोमंगो के निवास स्थान पहुँचा। शबरी का संरक्षक भल्लू ने उसे वहाँ से बड़ी चतुराई से मुक्त किया और दोनों मतंगाश्रम में पहुँचे। इस समय शबरी की खोज करते मालो शबर सरदार के पास पहुँचा। मालो के मुँह से शबरी का विवरण सुनकर गोमंगों उसे ढूँढ निकालने के लिए शबर पल्ली छोड़कर चला गया।

इधर शबरी ने तो ऋषि सेवा तथा भगवद् भक्ति में लीन रहना चाहा। इससे प्रसन्न होकर ऋषि मतंग ने उसे और उसके संरक्षक को अपने आश्रम के पास रहने की व्यवस्था की। मतंग का एक शिष्य - मुद्गल - कभी-कभी उसे अनुचित दण्ड देता रहा। वह ऋषि तथा शबरी के अनुचित संबंधों की झूठी चर्चा करने लगा। मुद्गल के इस अनुचित व्यवहार से वह दुःखी हो गयी और उसने ऋषि कन्या स्वधा से अपनी व्यथा प्रकट करके आश्रम छोड़ दिया। अपने शिष्य के अनिष्ट व्यवहार से ऋषि का मन आत्मग्लानि से भर उठा। उन्होंने अपनी पुत्रि को बुलाकर रामचन्द्र के आते वक्त उनका सादर स्वागत करने का उपदेश देकर योगाग्नि में अपने को अर्पित किया।

मतंगाश्रम को छोड़कर शबरी आश्रम के पास के जंगल में रही, जहाँ मालो से उसका मिलन हुआ। वह राम की प्रतीक्षा में जीवन बिता रही थी। इस बीच राम और लक्ष्मण सीता की खोज करते ऋष्यमूक पर्वत के पास के वन पहुँचे। वहाँ स्वधा ने उन दोनों को पहचान लिया। बीच में शबरी को खोजते पागल होकर घूमने-फिरनेवाले गोमंगो से उनका मिलन हुआ। अंत में राम तथा लक्ष्मण बोधायन और मुद्गल के साथ शबरी की कुटी पहुँचे। शबरी ने उनकी सादर सेवा शुश्रूषा की और गठरी से मीठे-मीठे फल लेकर उन्हें खिलाया जो प्रति दिन अपने स्वामि के लिए इकट्ठा करके रखे थे। राम की भक्ति पर वह इतनी अनुरक्त है कि अपने स्वामि को खिलाने के लिए जो फल इकट्ठे किये उनमें एक भी न कटे निकले। इसलिए उसने प्रत्येक झाड़ी के फल को चखकर अधिक मीठे फल को चुन रहा था।

शबरी की निष्ठा पर राम संतुष्ट हो गये। उन्होंने उस भक्ता से पंपा सर के कलंक को धोने का उपदेश दिया, जो शबरी के प्रति मुद्गल के

अविनीत व्यवहार के कारण रक्तमय हो गया था। शबरी के चरण स्पर्श से वह पूर्ववत् निर्मल हो गया। पंपा सर से लौटते समय गोमंगो भी वहाँ पहुँचा। शबरी के राम के चरणों पर पड़ते समय उसके कंधे पर के नाग के निशान देखकर गोमंगो ने अपनी बहन शबरी को पहचान लिया, क्योंकि उसके कंधे पर भी वह निशान है जिसे उसके पिता ने अपने बच्चों के कंधे पर गुदवा दिया था। इस प्रकार शबरी की अपने भाई से भेंट हुई। राम और लक्ष्मण संतृप्त होकर वहाँ से चले गये।

शबरी का राम को मीठे फल देने का जो प्रसंग है उसका नाटक-कार ने कुछ स्पष्टीकरण दिया है। मूल कथा में यह कहा गया है कि शबरी ने एक-एक फल चखकर राम को दिया है। लेकिन आज के बौद्धिक युग में यह तर्कसंगत प्रतीत न होता है। क्योंकि आज के युग में कोई भी व्यक्ति अपने मेहमान को जूठे नहीं खिलाता। इसलिए नाटककार ने शबरी को पहले ही उसे चुन लेने का अवसर दिया है।

देश की भलाई की चिंता किये बिना व्यक्तिगत ईर्ष्या और विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर बदला लेने की भावना लेनेवाले देश के विद्रोहियों को नाटककार ने चेतावनी दी है। देश की अवनति या पिछड़ेपन के मूल कारणों में से एक है आपसी फूट और प्रतिहिंसा की भावना। हमारे भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास इस तथ्य के लिए गवाही है कि प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित ऐसे देश द्रोही व्यक्तियों के कारण भारत विदेशी शासकों का गुलाम बन गया।

नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में तत्कालीन राजनीतिक पहलू को भी प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा राम कालीन समस्या का भी साक्षात्कार हुआ है। दक्षिण में राक्षसों का आक्रमण होता रहा। वे आश्रम में पहुँचकर लूट-मार करते रहे। आश्रम प्रान्त की जंगली जाति भी उन विदेशी राक्षसों की सहायता करती रही। यह स्थिति आज भारत की भी है। यहाँ भी अधिकार प्राप्त करने के लिए देश की अखंडता की भी बलि देकर विदेशियों की सहायता करते हैं। शबरी, स्वधा जैसे देश-प्रेमियों ने देश की अखंडता को बनाये रखने के लिए परिश्रम किया। स्वधा ने श्रीरामचन्द्रजी से प्रार्थना की - "एक बार इस देश से इन राक्षसों को निकाल दीजिए और इन्हें ऐसा दंड दीजिए कि न ये विदेशी रह जाये, न इनका विदेशीपना

बचा रहे। हमारा देश अखंड हो, सदा धन-धान्यों से पूर्ण रहे और उसपर कभी किसी विदेशी का शासन न हो।"[1]

शबर कन्या होने पर भी शबर सरदारों का राक्षसों की सहायता करते देखकर उसने उससे खुलकर विरोध किया। अपने को शबर पल्ली के सरदार गोमंगो के पास पहुँचाने आये कोला से उसने खुलकर अपना विचार प्रकट किया - "जिन्होंने अपना मान-सम्मान समुद्र पार रहनेवाले राक्षसों के साथ बेच दिया हो और उनके संकेत पर अपने देश के हृदय में छुरा भी फेंक सकते हों, उनसे हम बात नहीं करना चाहती।"[2]

यद्यपि गोमंगो, कोला, अरसी, बोधायन, भल्लू आदि नाटक के मुख्य पात्र काल्पनिक है तो भी शबरी की कहानी सुनाने के लिए नाटककार ने उनका सहारा लिया है। आधार कथा में ऐसा कहा गया है कि शबरी को श्रीराम से शापमोक्ष मिला। लेकिन नाटककार की शबरी कोई शापग्रस्त नारी नहीं रही, बल्कि उसकी भक्ति से उसके आचरण से आश्रमवासी भी पाप-विमुक्त हो गये।

व्यक्ति की अस्मिता का आग्रह और प्रतिष्ठा आज के युग का एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है। निम्नतर धरातल पर झाँका हुआ व्यक्ति भी अपनी अस्मिता को जानकर अपने भीतर के प्रकाश को आलोकित कर महान से महान लक्ष्य को प्राप्त करता है।

दूसरा एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न नारी-पुरुष संबंधों से घिरा है। शबरी शूद्रा है, अस्पृश्य है, साथ ही वह एक नारी है। मतंग एक महान ऋषि है, ज्ञान एवं साधना के अपूर्व संगम है। लेकिन ऋषित्व को यह छूट नहीं कि वह एक शूद्रा की पवित्रता को स्वीकार करें। जब ऋषि ने इस सीमा का अतिक्रमण किया और शबरी को अपने आश्रम के निकट स्थान दिया तो अन्य शिष्य चौकन्ने रह गये। ज्यों-ज्यों मतंग ऋषि ने शबरी की तपश्चर्या से प्रभावित उसे प्यार किया, त्यों-त्यों शिष्य संशय के घेरे से बाँधा गया। आश्रमवासियों ने गुरु के बहिष्कार का

---

1. सीताराम चतुर्वेदी "शबरी" - पृ:115
2. वही - पृ: 37

निर्णय किया। इन शिष्यों ने ऋषि मतंग की श्रेष्ठता तब तक स्वीकार नहीं की जब तक राम ने आकर शबरी की भक्ति-श्रेष्ठता पर मुहर नहीं लगायी। शबरी के माध्यम से यह प्रश्न उठाया है कि क्या सारे मानवीय संबंध शरीर की सीमा में ही बंधे हैं? हृदय की उदारता को पहचानने की दिशा में मनुष्य आज भी आगे नहीं बढ़ा। शबरी के माध्यम से यह भी प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति अपने कर्म द्वारा जाति, धर्म, वर्ण आदि से ऊपर उठकर पूज्य बन सकता है।

****

निवृत्ति और प्रवृत्ति की आपसी टकराहट -

"पाषाणी"

कामवासना मनुष्य के मन की सहज वृत्ति है। जब कभी यह वासना अपना सिर उठाती है तो उसे अपने अंकुश में रखना सभी लोगों के वश की बात नहीं है। मन में उठनेवाली वासनाओं और लालसाओं को काबू में रखकर संयमित जीवन बिताना आसान कार्य नहीं है। खुद अपनी इच्छा के मुताबिक सात्त्विक जीवन चुननेवाले की ज़िन्दगी में कोई संघर्ष नहीं। लेकिन दूसरों की इच्छापूर्ति के लिए तापसी जीवन चुनने के लिए मज़बूर होनेवाले कभी असली ज़िन्दगी नहीं जीते, वे ज़िन्दगी ढोते हैं। माता-पिता की वादा-पूर्ति के लिए अपनी बालपन में बूढे गौतम को ब्याही राजकुमारी अहल्या के विचलित यौवन मन की तस्वीर जानकी वल्लभ शास्त्री ने "पाषाणी" में खींची है। खुद नाटककार ने भूमिका में स्पष्ट किया है कि इसमें पाषाणी की तृप्त अतृप्ति तथा ऋषि गौतम की अतृप्त तृप्ति[1] के संघर्ष का चित्रण है।

बहुत वर्षों तक निःसन्तान रहे दंपतियों को ऋषि गौतम के वर-दान से मिली कन्या थी अहल्या। लेकिन एक शर्त पर ही मुनि ने यह वरदान दिया था कि पहली संतान उन्हें सौंप देनी थी। माता-पिता की इच्छा पूर्ति के लिए बालपन में ही बूढे ऋषि को ब्याही राजकुमारी अहल्या का यौवन-मन आश्रम के सात्त्विक वातावरण से सहसा विचलित हो उठा। आश्रम के बाहरी दिखावा तथा शांति उसके मन को खलने लगा -

> मैं कब की तापसी, मल्लिके तुम्हें नहीं कुछ ज्ञात,
> मैं भी राजकुमारी ही थी कभी, भाग्य की बात
> बालपन में मुझे तपोवन मिला, शिला का स्नेह,
> छाँव पेड़ की, धुआँ मोह का और धूप की देह।[2]

---

1. जानकी वल्लभ शास्त्री - पाषाणी - प्रस्तुत - पृः।।
2. वही - पृः 79

आश्रम में शांति पाने के लिए आयी मल्लिका अहल्या की मानसिक विह्वलता से एकदम चिंतित हो उठी और उसने आश्रम जीवन के खोखलेपन पर विचार किया -

राजभवन तज तभी तपोवन-आश्रम पर मरती हूँ।
किन्तु यहाँ भी ....., [1]

लेकिन अहल्या ने अपनी मानसिक चंचलता व्यक्त की। वह आश्रम जीवन पर दोष लगाना नहीं चाहती।

अहल्या के अवचेतन मन में कामवासना सोयी पड़ी है। तप से वह ऊब चुकी है। उसका जीवन-कमल आँसुओं के जल में डूब गया। संयम को उसने केवल शब्द जाल समझा। सात्विकता तथा नीति से उसे कोई मतलब नहीं है। ऋषि अपनी तापसी पत्नी की मानसिक चंचलता को समझ लिया तो उसने उसे समझाने का परिश्रम किया। उसने कात्यायनी तथा मैत्रेयी की कथा सुनाकर उसके मानसिक संघर्ष को दूर करना चाहा। लेकिन इसमें वह पराजित हो गया। ऋषि की कहानी सुनते-सुनते वह सो गयी।

अहल्या के अवचेतन मन में सोयी पड़ी कामवासना स्वप्न के रूप में प्रकट हुई। स्वप्न में इन्द्र ने उससे प्रणय निवेदन करता हुआ दिखाई दिया। वह इन्द्र को अपनी कामना का प्रतीक समझी। लेकिन जागने पर उसने अपना कर्तव्य जान लिया, पति से क्षमा माँगी और इन्द्र को कोसकर उसे "भक्षक" बताया।

मुर्ग की बाँग सुनकर ऋषि ने स्नान-तपन के लिए आश्रम छोड़ दिया तो अहल्या ने उसे मना किया। उसका विह्वल मन तड़पने लगा। उसने पति से अनुरोध किया -

डर रही मैं किंतु अपने आप से।
मत अकेले छोड़ तुम जाओ कहीं,
करो संध्या, साम या जाओ यहीं। [2]

इन्द्र के रूप-सौन्दर्य में मुग्ध अहल्या अपना स्वप्न-दृश्य भूल ही नहीं सकी। साथ ही उसके मन को अपराध बोध नोचता रहा कि उसने पति के साथ धोखा दिया है।

---

1. पाषाणी - पृ:8।
2. वही - पृ:94

उसने गौतम से क्षमा भी माँगी -

पास अहल्या आपके
जो चाहे से इसे कहे
यह विष लता आप चन्दन तरु
वर्षों का सहवास भी,
पर कैसा दुर्भाग्य, न पाया -
इसने सहज सुवास भी।[1.]

जो ज़िन्दगी उसे मिल गयी है वह उसे बिलकुल निरर्थक लगी। उसका दुःख यों फूट निकला -

मैं असफल ही तो हूँ, पर इस जीवन को क्या करूँ?
ज्ञान न पाया, मिली न माया, मर मरकर फिर क्या- मरूँ?[2.]

अपनी पत्नी की चंचल मानसिकता से पूर्ण रूप से अवगत होने के बाद महर्षि गौतम को अपने कार्य पर पश्चाताप हुआ कि वृद्धावस्था में कामुकतावश उसने अहल्या से शादी की -

आत्मवंचना मैं ने की ही,
दण्डनीय मैं आप ही,
पुण्य से न जो तुम्हें पा सका,
मेरा जीवन पाप ही।[3.]

अहल्या ने भी गौतम की इस कमज़ोरी की ओर तर्जनी उठायी -

मैं युवति, तुम जर्जरित, इस जलते से सत्य को,
धर्म ज्ञान तप बुझा न पाये, जला न पाए तथ्य को।[4.]

---

1. पाषाणी - पृ:99
2. वही - पृ:100
3. वही - पृ:99
4. वही - पृ:100

मुनि पश्चाताप करते-करते मूर्छित हो गया। अहल्या के हृदय से एक गूँज झंकृत हो उठी - "मैं क्या करूँ?, मैं क्या कहूँ? - तभी मूर्छित गौतम मुनि के मुँह से सहसा एक उष्ण उच्छ्वास निकल पड़ा - "पाषाणी" "पाषाणी"। यह सुनकर अहल्या ज़ोर से चीखने लगी -

नारी हूँ, यह है बात प्रथम
नारी हूँ, स्वीकृत घात चरम
अंतर्द्वन्द्व में जले बुझे
जीवन की तृषित कहानी हूँ।
कैसे कहते पाषाणी हूँ?[1]

यहाँ शास्त्रीजी ने "पाषाणी" शब्द का प्रयोग मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

यह कहानी प्रसिद्ध है कि पर-पुरुष चाह के कारण ऋषि गौतम अहल्या को पाषाणी बन जाने का शाप दिया था। इस घटना को नाटककार ने यहाँ मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। लालसा और संयम के बीच में पड़ी अहल्या के जीवन में विश्राम नहीं मिलता। वह अपने अवचेतन मन में इन्द्र के सौंदर्य पर मुग्ध हो गयी तो उसने होश में उसे "भक्षक" कहकर उसके प्रति अपनी घृणा व्यक्त की, तो कहीं अपनी लालसा को दबाकर अपने बूढे पति पर व्यंग्य किया -

जीनेवाले चुप जीते हैं,
क्यों आप किंतु चिंतित इतनी?
मैं ने ऐसे रोते-हँसते,
काटे जीवन के दिन कितने।[2]

भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी होने के नाते "पाषाणी" की भूल के हिमायती के रूप में नाटककार कभी नहीं दिख पड़ता। उनकी अहल्या ने खुद स्वीकार किया जो कुछ हुआ है वह उसकी दुर्बलता है। -

शांत मल्लिके यहाँ न कोई दोष।
जो मेरी अपनी दुर्बलता उसपर ही आक्रोश।[3]

---

1. पाषाणी - पृ:10।
2. वही - पृ:84
3. वही - पृ:81

अतृप्त यौवन वासना से पीड़ित अहल्या की दृष्टि में अपने बूढे पति ऋषि गौतम की तपस्या का कोई मूल्य नहीं। अहल्या के मन की इस भावना को गौतम ने समझ भी लिया। उसका मन इसपर तड़पा -

हा रे गौतम तेरे तप का
साधन विराग का जीवन का
क्या मूल्य अहल्या के हग में
क्या दबा भाव उसके मन का।[1]

जब गौतम को यह आभास हुआ है कि उसकी पत्नी के दिल को राजसी भाव छू गया है तो उसने पत्नी के मन में सात्त्विकता के प्रति आकर्षण पैदा करना चाहा। इसके लिए वह याज्ञवाल्क्य की दोनों पत्नियों - कात्यायनी और मैत्रेयी - की कथाएँ सुनायीं। गार्हस्थ्य छोड़कर सन्यासाश्रम की ओर बढते वक्त याज्ञवाल्क्य ने अपनी दोनों पत्नियों से घर में संचित धन को दोनों के बीच बाँटने के लिए कहा। लौकिकता से बंधी कात्यायनी के लिए पति का धन ही सब कुछ था। लेकिन आध्यात्मिकता पर अटल रही मैत्रेयी ने पति से कहा -

महा मुने
मुझमें ऐसी दो ज्योति जगा
जिससे मिट्टी का सम्मोहन
मेरे मन को न कभी मोह
जो अमृत, अमर, जो अविनश्वर
बस केवल वही मुझे दो हे![2]

भौतिकता को तुच्छ एवं हेय मानकर आध्यात्मिकता को तरजीह देनेवाले नाटककार का दृष्टिकोण इस कथा में मुखरित है।

अपने बूढे पति के प्रति अहल्या के मन में घृणा की जो भावना है वह उसके स्वप्न से ही स्पष्ट है। स्वप्न में देव राज इन्द्र को देखते ही, उसके रूप-वैभव से आकृष्ट होते ही उसे अपने बूढे पति के शक्ल की याद आयी -

---

1. पाषाणी - पृ: 89
2. वही - पृ:89

तुम हो कौन? तरुण अति सुन्दर

उजली धुली जटा मुनिवर की, पर यह श्यामल केश।[1]

वंश विस्तार के मोह में पड़कर अहल्या के माता-पिता ने जो शर्त स्वीकार की थी वह अहल्या के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन गया। उस प्रशांत तपोवन में उसका मन बिलकुल अशान्त है। उसको अफसोस है कि उसका मन अपने वश में नहीं है। उसका मन निराशा में डूबा हुआ है - "मैं तो वही रात की जिसका होता कभी न भोर" - है। तपस्विनी का उन्नत संयम जीवन बिताने का उपदेश देने-वाले गौतम से उसने कहा -

बस बस तप की मत बात कहें
तपते-तपते मन ऊबा है,
मेरे जीवन का भुल्ल कमल आँसू के सर में डूबा है।[2]

पौराणिक घटनाओं की व्याख्या करते समय लेखक के दृष्टिकोण के अनुसार उस अतीत कालीन गाथाओं के कई आयाम मिलने की संभावना है। "पाषाणी" की कथा का जब एक आदर्शवादी लेखक विश्लेषण करता है तो उसका निष्कर्ष यही होगा कि पर-पुरुष के साथ यौन संबंध स्थापित करनेवाली विवाहिता नारी का सर्वनाश होता है। ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचने का मुख्य कारण तो यही है कि लेखक की दृढ आस्था भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों पर है और यह संस्कृति नारी के पातिव्रत्य धर्म को सबसे श्रेष्ठ और ऊँचा स्थान देती है। लेकिन एक प्रगतिशील लेखक इसी कथा को एक दूसरा आयाम प्रदान करता है। उसका प्रगतिशील चिंतन यह सोचने के लिए उसे विवश करता है कि पर पुरुष के साथ यौन संबंध रखने की इच्छा उस नारी में क्यों जाग गयी है। उनकी राय में पाषाणी की ओर से कोई गलती नहीं हुई है। एक बूढे ऋषि के साथ ब्याही नारी का मन अवश्य अतृप्त ही रहेगा। रह-रहकर उसके मन में लालसाएँ और कामवासनाएँ उठेगी। समाज के भय से, मान-मर्यादा की चिंता से अपनी सारी लालसाओं को दबाने की कोशिश भी वह करेगी। लेकिन अनुकूल परिस्थिति पाकर यह लालसाएँ

---

1. पाषाणी - पृ:90
2. वही - पृ:83

जाग उठेगी। पति की अनुपस्थिति में इन्द्र के प्रलोभन में फँसनेवाली अहल्या प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि में कभी दोषी नहीं।

जाहिर है ज़ानकी वल्लभ शास्त्री के हृदयस्थ भावों और तीव्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का प्रस्तुतीकरण इसमें कुशलता के साथ हुआ है।

****

आहत नारीत्व की फूत्कार -

"असुर सुन्दरी"

स्त्री क्षमा, दया और ममता की प्रतिमूर्ति है। कभी-कभी उसके इस व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी है। अपने आत्माभिमान पर ठेस लग जाते ही नारी के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू अपनी कुण्ठली उठाकर फूत्कार सुनाने लगता है। उदयशंकर भट्ट का "असुर सुन्दरी" एक चोट खाई सर्पिणी की अनन्त फूत्कार है।

पौराणिक चरित्रों को नये दृष्टिकोण से आँकने की स्वतंत्रता हर लेखक को है। जब पौराणिक प्रसंगों का अध्ययन करते हैं तो लेखक को लगता है कि इन पौराणिक घटनाओं के बीच कुछ अंश रिक्त पड़ते हैं, इन रिक्त अंशों को भरने की कोशिश वह अपनी कल्पना के सहारे करता है। "वाल्मीकि रामायण" और "कम्पन रामायण" के अंग्रेज़ी अनुवाद को कई बार पढ़ने पर उदयशंकर भट्ट को लगा कि शूर्पणखा ने दण्डकारण्य की दुर्घटना के बाद कथा को नया मोड़ दिया है। रावण से अपने अपमान का बदला लेने की बात कहकर शूर्पणखा रामायण कथा से अदृश्य हो गयी। बाद में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह बात नाटककार को असंगत सी लगी। अतः नाटककार ने शूर्पणखा के चरित्र पर अधिक गंभीरता से सोचने और खोज करने का निश्चय किया। श्रीमती कमलारत्नम की राय में "जिस प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने रामायण के अपने अध्ययन से भारतीय साहित्य में काव्येतर उपेक्षिताओं पर प्रबन्ध लिखने की परंपरा चला दी उसी प्रकार शूर्पणखा के चरित्र में ऐ बौद्धिक और कूटनीतिज्ञ नारी की खोज कर भट्ट जी ने एक मौलिक सूझ का परिचय दिया है।"[1]

शूर्पणखा पुलस्त्य कुल में विश्रवा की बेटी थी। उसका पति विद्युद्जिह्व दण्डकारण्य का राजा था। रावण ने जब दक्षिण भारत में अपना अधिकार जमाया तब विद्युद्जिह्व ने उसके शत्रुओं को सहायता दी। इस कारण रावण ने उसे मार डाला। बहन के दुःख को उसने मामूली माना। शूर्पणखा के

---

1. उदयशंकर भट्ट : असुर सुन्दरी - पृ:9

रोने-धोने पर उसे दण्डकारण्य की स्वामिनी बनायी। राज पद मिलने पर भी उसे शान्ति नहीं मिली। उसके प्रति खर, दूषण, त्रिशिरा, रावण आदि भाई तथा उनकी बहुओं के व्यवहार उसे अधिक दुःख देने तथा क्रोधी बनाने लायक थे। उसने एकाध स्थान पर अपने प्रेमी प्रकम्पन से यह व्यथा प्रकट की। एक बार खर, दूषण आदि आसव पीकर मत्त थे और उनकी बहुएँ भी आसव पानकर रही थीं तब शूर्पणखा भी वहाँ पहुँची और आसव लेकर पीनेवाली थी कि दूषण की स्त्री ने उसे डाँटा और अन्य राक्षस महिलाओं से कहकर उसे बाहर निकाला। इस घटना ने उसके अभिमान पर चोट पहुँचा दी। अवसर मिलने पर वे बहुएँ वन-विहारिणी कुलटा आदि कहकर उसपर व्यंग्य कसने में अपने को सुखी महसूस करती थीं। ऐसे अवसर पर कभी-कभी उसका हृदय प्रतिशोध के लिए तड़प उठा - "चाहता हूँ कि इस पृथ्वी को उलट कर गेंद की तरह तोड़ दूँ। आकाश की उल्का को पीकर सब-को जला दें, प्रकम्पन! कभी न रहे खर दूषण त्रिशिरा रावण कोई भी नहीं।"[1]

इस समय, जब कि शूर्पणखा दण्डकारण्य में निवास की थी लक्ष्मण तथा राम सीता के साथ वनवास के लिए वहाँ पहुँचे। दोनों सुन्दर कुमारों पर उसका ध्यान पड़ा और उसके अन्दर सोयी पड़ी कामवासनाएँ जाग उठीं। उसने उनसे प्रेम की भिक्षा माँगी तो विवाहित कहकर राम ने उसे तिरस्कार किया और अपने स्वामि की सेवा में बाधा पड़ें - इस चिंता से लक्ष्मण ने भी उसे त्याग दिया। शूर्पणखा अपने और राम के बीच में सीता को व्यवधान मानकर उसे मारने के लिए आगे बढ़ी। विवश होकर राम के कहे अनुसार लक्ष्मण ने उसे घायल कराकर वहाँ से भगा दिया।

अपमानित तथा क्रुद्ध शूर्पणखा ने रो-धोकर भाई खर के सम्मुख अपनी दुर्व्यथा को प्रस्तुत किया। अपनी बहन पर किये गये अत्याचार का बदला लेने खर, दूषण, त्रिशिरा आदि अपनी सेनाओं के साथ राम-लक्ष्मण से लड़ने गये। परिणाम हुआ सबका सर्वनाश। असुर सुन्दरी की प्रतिशोधाग्नि और भी प्रज्ज्वलित हो उठी। उसने प्रकम्पन को रावण के पास भेजा और सीताहरण का प्रलोभन कराया। लेकिन वह पराजित हुआ। अंत में वह स्वयं रावण के सामने जाकर सीता

---

1. असुर सुन्दरी - पृ:3

की सुन्दरता के बारे में वर्णन करने लगी। वह जानती थी कि रावण कामी है। रावण उसके जाल में फँस गया और सीता को लंका हर लाया।

शूर्पणखा के हृदय में अबुझ आग की भट्ठी जल रही थी कि उसने सीता को पति वियोग में तिल-तिल कर घुलते देखना चाहा। यहाँ तक कि प्रकम्पन के प्रेम-व्यवहार में भी उसे रुचि नहीं लगी। उसने राम और रावण दोनों का नाश चाहा, जिन्होंने अपने हृदय को कुचल डाला है। उसने यह भी चाहा कि रावण के साथ लंका का सर्वनाश, जिसके कारण वह विधवा हो गयी है।

सीता की खोज में राम लंका पधारे और राम-रावण दोनों के बीच में युद्ध छिड़ गया। राम की विजय हुई और सीता की मुक्ति भी। विभीषण लंका का राजा बन गया। शूर्पणखा ने अपनी बुद्धि के बल से प्रकम्पन के सहारे उसके बन्दर के रूप में राम के शिविर में बन्दरों के बीच सीता के कलंकित होने की झूठी बात फैलाई। विवश होकर राम ने उसकी परीक्षा ली और उस अग्नि परीक्षा में सीता पवित्र सिद्ध हुई तथा वे अयोध्या पहुँचकर राज्याभिषेक में लीन हो गये।

शूर्पणखा के प्रतिशोध की आग अयोध्या तक पहुँची। राजतिलक के कोलाहल के बीच वह एक अनपढ़ की स्त्री को अपनी मायाजाल से उड़ाकर ले गयी और सूर्य के निकलने पर उसे लाकर सुला दिया। जागने पर उसके पति ने उसपर प्रश्न किया तो प्रकम्पन ने अदृश्य रूप में उसके कानों में कहा - क्या यह भी किसी उपपति के पास रात को रही? पति ने क्रुद्ध होकर उसे घर से यह कहकर निकाला कि "मैं राम नहीं हूँ जो रावण के घर इतने दिनों रही औरत को वापस रख लूँ।" इस घटना को भरे बाज़ार में दोहराकर अपने लक्ष्य पाने में शूर्पणखा सफल हो गयी। यह खबर राम के कानों में पड़ी। उसने सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आने की आज्ञा लक्ष्मण को दी और लक्ष्मण ने सीता को वन पहुँचाया।

इस नाटक में शूर्पणखा के प्रति भट्टजी की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म हो गयी है। इस सूक्ष्म दृष्टि से परखने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पुष्प - वाटिका में सीता पर अत्याचार, युद्ध समाप्त होने पर भी उसकी अग्नि परीक्षा

तथा अयोध्या के राज सिंहासन पर बैठने के बाद भी उसका अपमान और निर्वासन ये सब आपस में असंबंध तथा भाग्य पर निर्भर घटनाएँ नहीं हैं। अवश्य इसका संबंध किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतिहिंसा और दुरभिसंधी से होगा जो जीवन भर उससे घृणा करता आया हो।

स्त्री के लिए पति वियोग का दुःख सबसे दारूण होता है। सुन्दरी और बुद्धिमान स्त्री के लिए वह और भी दारूण हो जाता है। शूर्पणखा ने समझा कि यद्यपि रावण ने अपने पति को मार दिया है, फिर भी अपने भाई के मन में अपने किये हुए पर ज़रा भी पश्चाताप नहीं। इसके अलावा अपने घर में भी उसे कोई चैन नहीं मिला। क्योंकि उसके अन्य तीन भाई और भाभियाँ उसके प्रति उपेक्षापूण व्यवहार करते थे। ऐसी दशा में स्वाभाविक था कि विधवा शूर्पणखा अपने भाइयों के पारिवारिक जीवन, पतियों के साथ उन्मुक्त बेझिझक आमोद-प्रमोद को देखकर मन में खेद, वितृष्णा और अकेलेपन का अनुभव करे। उसका घायल मन और भी क्षत-विक्षत हो गया जब राम द्वारा उसके प्रेम का तिरस्कार हुआ, ब्याह के प्रस्ताव के लिए नाक कान काटकर अन्यायपूर्ण और भीषण दण्ड दिये गये। शूर्पणखा अपने और राम के बीच में व्यवधान सीता को ही पायी। वह सोचती थी यदि सीता न होती तो शायद राम उसको स्वीकार कर लेते। इसलिए वह जी खोलकर सीता से ईर्ष्या करने में भी हिचकी नहीं और सब प्रकार से सीता का अहित करने में तुला बैठी है। इस प्रकार नाटककार ने यह सिद्ध किया है कि शूर्पणखा के सीता द्वेष में ईर्ष्या एवं बदले की भावना प्रमुख थी। निश्चय ही यह नाटक रामायण के नये सिरे से मानवीय अध्ययन और मनन तथा मानव स्वभाव की जटिलताओं का यथार्थ विश्लेषण है।

****

भ्रातृत्व की अनूठी मिसाल -

"चित्रकूट"

समाज के प्रति प्रतिबद्ध नाटककार ऐसी रचनाएँ प्रदान करते हैं जिनके माध्यम से नई पीढी में जीवन मूल्यों के प्रति एक नई स्फूर्ति, उन्मेष और उमंग जागृत करना चाहते हैं। हम ऐसे एक युग से गुज़र रहे हैं जहाँ पारिवारिक रिश्ते प्रतिदिन शिथिल होते जा रहे हैं। कुछ तुच्छ स्वार्थों के लिए भाई-भाई के बीच गलाकाट व्यवहार हो रहा है। पारस्परिक रिश्तों में जो आत्मीयता होनी चाहिए वे अलगाव में बदलती जा रही है। परिवार के सदस्यों को आपस में बाँधने-वाले प्यार के सूत्र मज़बूत नहीं। इसलिए बहुत जल्दी टूट जाता है। यों प्यार के अभाव में अपने ही घर में अजनबी लगनेवाले लोगों के सामने मिश्रजी ने भातृ-प्रेम का उदात्त दृष्टान्त दिखाया है।

मुख्य रूप से नाटक में रामकथा का प्रख्यात अंश चित्रकूट प्रसंग ही उभर आता है। भूमिका में वे व्यक्त कर देते हैं - "चित्रकूट की रचना में मेरी चेष्टा रही है कि जहाँ तक बने इसमें भारतीय मान्यताएँ दी जाएँ।[1] इस देश में जन्म लेकर जो कवि इस कथा के किसी अंश पर कवि कर्म न करे तो वह इस देश के धर्म से विमुख है और अपनी भूमि, अपने लोक के ऋण से अनृण नहीं हो सकता।[2]

नाटक का आरंभ राजा दशरथ के मरणोपरान्त भरत के शत्रुघ्न के साथ अयोध्या लौटने से होता है। अपने कारण पिता की मृत्यु और भाई के वनवास का समाचार सुनकर वह मूर्च्छित हो जाता है। इन सबके हेतु अपनी ही माँ की कुबुद्धि है, यह जानकर वह माँ को भला-बुरा कहता है और भाई तथा भाभी सीता को वन से लौटाने तथा सिंहासन पर बिठाने के लिए वन जाने का निश्चय कर लेता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार पिता के अभाव में बड़ा भाई पितृ तुल्य है और सिंहासन का अधिकारी वही हो सकता है। बड़े भाई से

---

1. लक्ष्मी नारायण मिश्र - "चित्रकूट" - भूमिका - पृ:6
2. वही - पृ: 2

अधिकार छीन लेना पाप है। अपने ऊपर लादे गये इस पाप से मुक्ति पाना वह चाहता है। अपनी संस्कृति की उदात्तता को हवा में उड़ाकर राज्य भोग वह नहीं चाहता। इस कारण वह चौदह वर्ष तक अपनी पत्नी से साधू जैसा जीवन बिताने का वचन लेता है और भाई के बदले चौदह वर्ष का वनवास चुन लेने के लिए भी वह तैयार हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अयोध्या का संरक्षण अपनी पत्नी माण्डवी को देकर अपने गुरु, माँ-बन्धुओं तथा अन्य पुरजन तथा सेना के साथ राम से मिलने वह वन चला जाता है।

रास्ते में निषाद राज से उसकी भेंट होती है। राम के अनन्य भक्त निषाद को यह शंका उत्पन्न होती है कि कहीं भरत राम का अनिष्ट न करे। वह सेना समेत भरत को रोक लेता है। उससे अनुनय-विनय करके अपने मन की बात को जानकर उसे नदी पार करने की अनुमति देता है। भगवान राम के लिए भरत के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भी निषाद राज तैयार है। निषाद राज की शंका के समाधान होने पर वह भरत की पूजा तथा सेना के भोजन की व्यवस्था करता है। भरत माता समेत उस स्थान पर उपविष्ट हो जाता है जहाँ राम, लक्ष्मण तथा जानकी पिछली रात सोये थे। वहाँ से राम का जैसा वेष पहनकर और जटा धारण कर चित्रकूट की ओर चलता है।

चित्रकूट में राम, सीता तथा लक्ष्मण तापस-सा जीवन बिता रहे हैं। लक्ष्मण प्रतिदिन अपनी भाभी के हाथों प्रातराश लेता है और आखेट करता है तथा राम की सेवा में निरत रहता है। अचानक एक दिन राम का मन अपने पिता के प्रति व्याकुल हो जाता है। इस कारण उस दिन उपवास करने की जानकी से इच्छा प्रकट करता है। जानकी के मन में भी अयोध्या की चिन्ता आ घेरती है। आखेट करते समय लक्ष्मण दूर से भरत की सेना देखता है, तो इसकी सूचना राम को देते हैं। भरत को शत्रु मानकर उसके बारे में वह राम से कटुवचन सुनाता है और कैकेई की निन्दा करता है। राम उसे समझाने का परिश्रम करता है। लेकिन पहले वह मानता नहीं। अपने भाई के अहित की चिन्ता उसे अंधा बनाता है और भीतर का सेवक जाग उठता है। वह अकेले भरत से लड़ने के लिए उद्यत हो जाता है। अपने भाई तथा परिवार की निन्दा राम से सहन न किया जा सकता। वह लक्ष्मण को

मारने तैयार हो जाता है। अपने देवर के प्रति पति का आचरण देखकर जानकी अधीर हो जाती है और वह इन दोनों के बीच खड़ी रहती है। जल्दी ही मूर्च्छा उसे ग्रस लेती है।

गुरु, माताएँ सहित भरत चित्रकूट पहुँचता है। वहाँ जानकी की स्थिति देखकर वह अतीव दुःखी हो जाता है और उसके चरणों पड़कर रोने लगता है। अंत में राम का आदेश पाकर जानकी के मुख में पानी छिटका कर उसे सचेत करता है। गुरु वसिष्ठ से पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर राम, लक्ष्मण और जानकी उन्हें तिलोदक देने मन्दाकिनी चले जाते हैं। लौटते वक्त तीनों माताएँ तथा अन्य भाइयों से उसकी भेंट होती है। इनके मिलन से वहाँ दुःख फैल जाता है। उसके बाद गुरु के आदेश से भरत अपने आगमन का उद्देश्य व्यक्त करता है। वह अपनी माता की कुबुद्धि के लिए राम से क्षमा माँगता है। लेकिन राम उसे समझाता है कि इसमें माता या उसका कोई दोष नहीं है। इस वनवास का परिणाम दक्षिणापथ के राक्षसों का संहार होगा।

अयोध्या लौटकर सिंहासन स्वीकार करने का भरत का अनुरोध राम को स्वीकार नहीं है। वह अपने पिता के सत्य पर, इस प्रकार अपने धर्म की रक्षा पर दृढ़ रहा। इसे वह अपना पुरुषार्थ मानता है। अंत में राम के पादस्पर्श मिले पादुकाओं को सिर पर धारण कर भरत अयोध्या लौट आता है। लौटते वक्त वह राम के सम्मुख यह प्रतिज्ञा करता है कि जब चौदह वर्ष बीत जाये उस दिन तक सिंहासन पर इन पादुकाओं को रखकर पूजा करते रहें और राजधानी के बाहर पर्णकुटि बनाकर साधु-सा जीवन बिताये। इस अवधि के अंतिम दिन यदि राम न लौटे तो वह अग्नि में कूद मरे। प्रतिज्ञा लेकर अन्य अयोध्यावासी और वह अयोध्या लौट आते हैं।

राम के लक्ष्मण के प्रति क्रुद्ध होते समय जानकी के अधीर होने का प्रसंग नाटककार की मौलिक उद्भावना है। यद्यपि वह प्रसंग काल्पनिक है तो भी इसमें कोई भी अस्वाभाविकता नहीं है, क्योंकि लक्ष्मण के लिए जानकी केवल भाभी नहीं है, भगवति है, माता है। जानकी को भी वह बालक - जैसा है।

यद्यपि आयु में लक्ष्मण जानकी से बड़ा है तो भी आँखें मूँदे प्रातराश करते समय जानकी के हृदय में लक्ष्मण के प्रति बालक का भाव उत्पन्न होता है।[1] ऐसे व्यक्ति का अनिष्ट होते देखकर अधीर हो मूर्च्छित होना स्वाभाविक ही है।

नाटक के आदि से अंत तक बड़ों के प्रति श्रद्धा-भक्ति, छोटों के प्रति स्नेह भरा पड़ा है। निषाद राजा के भरत तथा अन्य अयोध्यावासियों के मिलन के प्रसंग में जंगली जातियों का निष्कलंक आचरण व्यक्त होता है।

आधुनिक युग के बदलते परिवेश में स्त्री घर के चहार दीवारों में बन्द रहना नहीं चाहती। वह पुरुष के कन्धे पर कन्धे मिलाकर परिश्रम करने से हिचकती नहीं। चाहे तो, आवश्यकता पड़ने पर पुरुष के दो कदम आगे बढ़कर देश की सेवा करने में भी वह तैयार हो जाती है। आज के समान प्राचीन काल में भी स्त्रियाँ सेवानिरत थी। पुरुष की अनुपस्थिति में राज्य की रक्षा का भार भी उनके ऊपर सौंपा गया था। इसके लिए अस्त्र-शस्त्र संचालन की विद्या उन्हें पढ़ाया करता था। अयोध्या की पुत्र वधुएँ अस्त्र-शस्त्र संचालन में निपुण थीं। वहाँ की स्त्रियाँ माण्डवी उर्मिला और श्रुतिकीर्ति से अस्त्र-शस्त्र-संचालन का अभ्यास करती थीं। इसका प्रमाण हमें भरत के कथन से मिलता है - मेरी पत्नी की एक सहस्र सहेली उनके अधिकार में धनुर्वेद का अभ्यास कर रही हैं। लक्ष्मण की पत्नी इतनी ही किशोरियों को धनुर्वेद का अभ्यास सिखा रही हैं। इतनी ही सहेलियाँ शत्रुघ्न की पत्नी से भी धनुष चलाने की कला सीख रही हैं। कोई ऐसा समय आया तो शत्रु को अयोध्या की देवियों से भी समर करना पड़ेगा, पर इतना साहस किसी शत्रु में नहीं है।[2] इस कथन से यह व्यक्त होता है कि प्राचीन काल में भी राजा के अभाव में अन्तःपुर की स्त्रियाँ शत्रु का सामने करने में भी समर्थ थीं। वे युद्ध क्षेत्र जाने के लिए भी तैयार थीं। देवासुर युद्ध में कैकेई का राजा दशरथ के साथ युद्ध क्षेत्र जाना ऐतिहासिक सत्य है। इससे हम समझ सकते हैं कि प्राचीन काल में भी स्त्रियाँ घर के चहार दीवार में बन्द रहना नहीं चाहतीं। सुख-भोग में लीन रहना नहीं चाहतीं। देश की स्वतंत्रता के लिए रण क्षेत्र में भी वे कूद पड़ती थीं। अतः

---

1. चित्रकूट - पृ:106
2. वही - पृ:79

हम कह सकते हैं कि बदलते परिवेश में नारी की मुक्ति की चाह केवल आज की ही चाह नहीं है, बल्कि प्राचीन काल से ही स्त्रियों के मन में सोयी पड़ी थी। मिश्र जी ने "चित्रकूट" के माध्यम से इसे भी व्यक्त करने का परिश्रम किया है।

चित्रकूट प्रसंग की प्रमुखता होते हुए भी समूचे नाटक में भरत भरा पड़ा है। वह भ्रातृभक्ति का एक बेजोड़ प्रतिरूप है। अपने भाई के वन-गमन की खबर सुनकर पूज्य माता को भी भले-बुरे कहने में वह हिचकता नहीं - "अरी अभागिनी, तेरी जीभ नहीं गिर जाती। रामचन्द्र के वियोग में केवल तात नहीं सभी जन मरेंगे, मैं भी मरूँगा उसी वियोग में। अयोध्या के सभी जन मरेंगे।"[1] यहाँ तक कि नारी सौन्दर्य को भी वह कोसता है, जिसके कारण ही समूची दुनिया का नाश होता है - "रूपवती नारी पुरूष की सदैव शत्रु होती है।"[2] उसकी राय में माता के पिता से दो वर माँगने के पीछे राज-लिप्सा ही काम कर रही थी जिसका परिणाम हुआ पिता की हत्या और पुत्र का सर्वनाश, साथ ही कुल की गरिमा की भी हत्या - "राज्य का मोह तेरी आँखों में चढ़ा है। सूझता नहीं तुझे कि तू ने केवल पति का नहीं पुत्र का भी वध किया।[3] इस चिन्ता से कि पुत्र के राज में कोई बाधा न पड़े जेठ पुत्र को वनवास दिया साथ ही कौसल्या को राज्य के बाहर निकाल दें, यह दोष भी वह अपनी माता के ऊपर लगाता है तो कौसल्या माता की निन्दा करने से उसे रोकती है। कौसल्या की क्षमा पर वह अपना आश्चर्य प्रकट करता है - "तुम्हारी क्षमा की अग्नि अब मुझे भस्म करेगी। हाँ हाँ तुम्हारी क्षमा मुझे भस्म कर देगी।[4] वह अपनी छोटी माँ सुमित्रा के सम्मुख भी माता के प्रति निन्दा का बाण छोडता है - "जिसके उदर से दैव ने मेरा जन्म दिया अब वह मेरी माता नहीं है। उसके मोह में तात न पड़े होते तो यह अनर्थ न होता।"[5] वह सीता को ही माता समझता है - "पितर सब लोक सुनें मेरी माता जानकी हैं दूसरी कोई नहीं।"[6] वह नारी को सभी नाशों

---

1. चित्रकूट - पृ:22
2. वही - पृ:22
3. वही - पृ:23
4. वही - पृ:25
5. वही - पृ:29
6. वही - पृ:29

का कारण समझता है तो सुमित्रा उसे समझाती है कि नारी के बिना पुरुष की उन्नति संभव नहीं - "बिना नारी मोह के पुरुष से अपना भार भी नहीं चलता वत्स! समर में वीर हथेली में प्राण लेकर समर करते हैं अपनी नहीं, अपनी पत्नी की शक्ति से। पुरुष के भाग्य की, बल, विजय और शक्ति की मूल उसकी नारी होती है।[1] उसकी राय में स्त्री के प्रति अवज्ञा भाव शास्त्र के प्रति होनेवाली अवज्ञा होती है। भरत की भातृभक्ति से प्रभावित होकर माण्डवी भी चौदह वर्ष की अवधि तक ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेती है और शत्रुघ्न को भी इसके लिए प्रेरित करती है - "प्रतिज्ञा करें, न करें पर अब तो आर्यपुत्र अपने मन से ब्रह्मचारी रहेंगे और तब मैं पति से उतनी दूर हूँ जितनी दूर देवर से उर्मिला है। कनिष्ठ देवर को भी यही करना होगा। हम तीन बहनें जो इस राज भवन में है, उस अवधि तक पिंजडे में बन्द सारिकाएँ हैं। परस्पर कण्ठ लगाकर रो लेंगी, हँस लेंगी, जो रूखेगा समय पर आहार भी कर लेंगी, पति के चित्र की पूजा कर लेंगी पर प्रत्यक्ष दर्शन न करेंगी।"[2]

भरत की आत्म ग्लानि इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह अपना सर्वनाश ही चाहता है - पुत्र का दर्शन मेरे भाग्य में न हो, अग्निहोत्र का अवसर मुझे न मिले, मेरी अकाल मृत्यु हो।[3] वह मुनि वसिष्ठ से शाप देने को भी प्रार्थना करता है - "दया करें भगवान! मुझे ऐसा शाप दें, जिससे मैं उसी प्रकार भस्म हो जाऊँ जैसे शंकर के तीसरे नेत्र की अग्नि से कामदेव भस्म हुआ। अपने कर्म का फल तब यह मेरी माता भोगे जिसे पति और पुत्र से अधिक मोह राज्य का है।[4] भरत के मन से अपनी माता के प्रति उत्पन्न क्रोध को शान्त करने के लिए माता कौसल्या उसे विश्वामित्र की कथा सुनाती है जो अपने क्रोध के कारण राजर्षि होने से वंचित हुए थे। वह समझती है कि - "क्रोध ऐसा पिशाच है जो चित्त को मलिन कर देता है।"[5]

---

1. चित्रकूट - पृ:30
2. वही - पृ:31
3. वही - पृ:35
4. वही - पृ:35
5. वही - पृ:43

भरत अपनी भ्रातृभक्ति में कितना अटल था, इसका सही प्रमाण राम के ही शब्दों में मिलता है - भरत की सबसे बड़ी कामना मेरी भक्ति है, सेवा है। इसे छोड़कर वे इन्द्र का पद भी नहीं लेंगे, इस अयोध्या के राज्य में क्या प्यारा है?[1] लक्ष्मण क्रोध से भरत से युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाता है तो राम उसपर क्रोध करता है और उसे मारने के लिए भी तैयार होता है - "भरत के वध के पहले मेरे हाथ तुम्हारा वध न हो। मेरी इस देह के बाहर विचरण करनेवाले प्राण तुम्हीं हो, फिर भी धर्म की हानी मैं न सहूँगा।[2]· भरत के प्रति श्रीराम की भातृभक्ति ही यहाँ व्यक्त होती है।

नाटक में लक्ष्मण का चरित्र भी भातृ-भक्ति का अनूठा निदर्शन है। वह तो अपने भाई की सेवा के लिए स्वयं अपने सुख को भी न्योछावर कर राम के साथ वन चला है। वह सोचता है कि यदि उर्मिला भी उसके साथ वन चलेगी तो अपने भाई की सेवा में बाधा आ जायेगी। वनवास के लिए निकलते वक्त लक्ष्मण यह सोचकर उर्मिला को अपने साथ नहीं ले आते कि अपने भाई और भाभी की सेवा में ऊर्मिला की उपस्थिति से कहीं कोई बाधा न पड़ जाय। जानकी के कहने पर कि यदि बहन ऊर्मिला को भी यहाँ ले आती तो एक दूसरे को बल देने के लिए वे भी दो रहतीं, लक्ष्मण उसे समझाता है - "तब मेरी सेवा में बाधा पड़ती भगवती। आप की इतनी सेवा न कर पाता तब तो मेरा सारा समय उन्हीं की सेवा में बीत जाता।"[3].

चित्रकूट से राम को लौटा देने में भरत हार गया तो वह वसिष्ठ के आदेशानुसार अयोध्या से आयी पादुकाओं को राम के सम्मुख रखकर उसपर अपने पैरों को रख देने की विनती करता है। राम की अनुपस्थिति में उसके पादस्पर्श से संपन्न पादुकाओं को सिंहासन का अधिकारी बनाना चाहता है। भ्रातृभक्ति के आगे राजकाज भी उसे निकम्मा जान पड़ता है। उसका अथाह भ्रातृ प्रेम वशिष्ठ के शब्दों में व्यक्त होता है - "समुद्र की थाह लग सकेगी शत्रुंजय, पर भरत का प्रेम जो तुम्हारे प्रति है, अथाह है।"[4].

---

1. चित्रकूट - पृ:72
2. वही - पृ:117
3. वही - पृ:203
4. वही - पृ: 149

रघुवंश की यह विशेषता थी कि प्राण जायें पर वचन न जायें। वचन पालन के लिए अपने प्राणों को भी तिलांजली देने के लिए वे तैयार हो जाते हैं। यहाँ राजा दशरथ भी अपनी रानी कैकेई को दिये गये वचन का पालन करने के लिए प्रिय पुत्र राम को वन भेजते हैं। परिणाम यह हुआ कि पुत्र वियोग में उनकी मृत्यु। पिता के धर्म के पालन के लिए राम वन चला जाता है और राज्य का भार भरत के कन्धों पर पड़ जाता है। ऐसी रीति थी कि पिता के बाद बड़ा पुत्र राज्य का अधिकारी हो। राम के वन चले जाने से भरत को यह अधिकार वहन करना पड़ता है। आजकल अपनी सत्ता कायम रखने के लिए भाई-बन्धुओं के रिश्तों को भी भूलकर मनुष्य छल-कपट भी दिखाने में हिचकते नहीं। लेकिन यहाँ भरत के आगे अयोध्या का राजा बनने के सभी दरवाज़े खुले रहते हैं तो भी वह अपने कुल धर्म के पथ पर ही चलना चाहता है। वह अपनी माँ को समझाता है - "पिता के न रहने पर बड़ा भाई पिता तुल्य होता है।"[1] वह यह आशा प्रकट करता है - "जो बल, प्राण, विश्वास तात के दर्शन से मिलता था वही मुझे अब बड़े भाई के दर्शन से मिलेगा।"[2]

देश के भविष्य की सुरक्षा के लिए सफल राजनीति की आवश्यकता है। जिस देश में अधिकारी न हो, उसपर शत्रु का हमला करना और विजय प्राप्त करना आसान है। अतः किसी शासक या अधिकारी के निधन या अधिकार छोड़ देने के अवसर पर जल्दी ही दूसरा अधिकारी या शासक वह पद हासिल करेगा। शत्रुओं से अयोध्या को बचाने के लिए मुनि वसिष्ठ राजा के निधन की खबर भरत के अयोध्या लौटते वक्त तक गुप्त रखते हैं। इस प्रकार शत्रुओं के हमले से अयोध्या को बचाते हैं। कठोर विपत्ति में भी भरत अपने देश की सुरक्षा की बात नहीं भूलता है। इसलिए इस चिन्ता से कि अयोध्या बिना अधिकारी के न हो। अपने भाई को लिवा लाने के लिए चित्रकूट जाते वक्त राज्य का भार अपनी पत्नी के हाथों देता है। निषाद राजा की शंका, कि कोई शत्रु अयोध्या का आक्रमण करे, को वह दूर करता है - "मेरी पत्नी पर अयोध्या की रक्षा का भार है।"[3]

---

1. चित्रकूट - पृ:14
2. वही = पृ:16
3. वही - पृ:79

जिस देश में धर्म नहीं चलेगा, प्रजा की इच्छाओं का पालन न करेगा, अराजक नीति चलेगी वहाँ शस्त्र, शास्त्र दोनों निष्फल होते हैं, कला का कोई स्थान नहीं होगा। स्त्रियाँ निर्भय होकर जीवन नहीं बितायेंगी और नर-नारी सुख से अपना जीवन नहीं बिता पाते। जिसे शक्ति है, वह नेता बन जाता है। अराजक राष्ट्र में लोक जीवन की नदी सूख जाती है। मुनि वशिष्ठ अराजक राज की ओर भरत का ध्यान आकृष्ट कर अपने कर्म के प्रति उसका ध्यान दिलाते हैं - "सत्य की रक्षा जैसे रामचन्द्र ने की वैसे ही मेरे पुत्र भरत भी करें।"[1] लेकिन उसका पक्ष यह है कि "जिस कुल में अनाचार होता है, धर्म का ह्रास होता है, वेद और शास्त्र की विधि की अवहेलना होती है, उस कुल के पितर स्वर्ग से गिरते हैं।"[2]

स्पष्ट है यह नाटक आज के अधिकार प्रमत्त तथा सत्ता लोलुप लोगों को अपनी कमज़ोरियों के प्रति पूर्ण रूप से अवगत करा देता है। स्वार्थ लिप्सा के प्रलोभन में आकर पारिवारिक रिश्तों की पवित्रता को पैरों से कुचलनेवाले लोगों को भरत और लक्ष्मण की भातृभक्ति अवश्य मार्ग दर्शक सिद्ध होगी।

****

---

1. चित्रकूट - पृ:37
2. वही

आर्य संस्कृति के जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा -

"दशरथ नन्दन"

"रामचरितमानस" का सौन्दर्य और संदेश जीवन के हर स्तर के व्यक्ति को बहुत प्रभावित करते हैं। मानस को पढ़ते समय वे उसमें डूब जाते हैं। मध्यकाल का महाकाव्य होकर भी वैज्ञानिक युग के व्यक्ति को भी कहीं अपने समीप लगने लगता है, हर बार उसमें कुछ नया प्राप्त होता है। उत्तर भारत के ग्रामीण समाज के प्रौढों और वयोवृद्ध व्यक्तियों के लिए मानस की वाणी उनके दैनिक जीवन को सुवासित करती है। नगरों में भी श्रीराम के निष्ठावान भक्त तुलसी की वाणी का नियमित श्रवण और उनके मानस का बार-बार पाठ करते हैं। प्रयोग धर्मी नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर की राय में "रामचरितमानस" वह कड़ी है जो नगरवासियों, पढे लिखे लोगों, बुद्धिजीवियों, उच्च वर्गीय समाज को ग्रामों की बहुसंख्यक जनता से जोड़ती है। दोनों खण्डों को एक व्यापक परंपरा के मिले-जुले वातावरण का आभास देती रही है।[1] नाटककार चाहते हैं कि यह कड़ी कभी न टूट जाय। इसके लिए एक तरीका भी वे अपनाते हैं। एक सफल रंगकर्मी नाटक-कार होने के नाते उन्हें पूरा यकीन है कि रंगमंच का दृश्य-श्रव्य प्रदर्शन प्रेक्षक की समस्त ग्रहणशील इन्द्रियों को एक साथ ही सजग कर देता है, कथा-प्रसंग, चरित्र शब्द और वाक्य को सजीव और स्मरणीय करके निरायास ही दर्शकों के मन में पैठा देता है। उनके इस अडिग विश्वास का परिणाम यह था कि उन्होंने मानस जैसे गौरव ग्रन्थ रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इसप्रकार मानस के काव्य सौन्दर्य कथा और बुनियादी संदेश दर्शक अधिक आसानी से हृदयंगम कर सका।

नाटक का आरंभ गोस्वामी तुलसीदास तथा उनकी भक्त मंडली के भगवान के स्मरण से होता है, जिससे हरिजन्म की कथा व्यक्त होती है। एक दिन राजा दशरथ ने अपने गुरु वशिष्ठ से कोई भी पुत्र न होने का अपना दुःख प्रकट किया। गुरु ने राजा को समझाया और ऋषि श्रृंग को बुलाकर पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया जिसके फलस्वरूप अग्नि प्रकट हुई और हविष्यान्न से बनी खीर युक्त चरु

---

1. जगदीश चन्द्र माथुर "दशरथ नन्दन" - निवेदन

दशरथ को दे दिया। ऋषि के कहे अनुसार राजा ने वह खीर अपनी तीनों रानियों को बाँट दिया। फलस्वरूप कौसल्या में राम, कैकेई में भरत तथा सुमित्रा में लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक चार पुत्रों का जन्म हुआ। इन पुत्रों ने बचपन में ही गुरु वशिष्ठ से सभी अस्त्र-शस्त्रों का यथोचित अध्ययन किया।

इधर विश्वामित्र तथा अन्य मुनिगण निशाचरों के अत्याचार से ऊब चुके थे। ये निशाचर आश्रम में आकर उनकी योग साधना में प्रतिदिन विघ्न डाल रहे थे। इन निशाचरों से आश्रम तथा तप-साधना को मुक्त करने के लिए अयोध्या कुमारों से सहायता माँगने विश्वामित्र तथा उनका एक शिष्य दशरथ के यहाँ पहुँचे। ऋषि ने अपने मन की कामना राजा के सामने प्रकट की -

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा।।[1]

ऋषि का मनोरथ सुनकर राजा हतप्रभ हो गये। लेकिन अंत में गुरु वशिष्ठ के कहे अनुसार अपने अतिथि की कामना की पूर्ति की। राम और लक्ष्मण ऋषि के साथ सहर्ष चले गये।

मार्ग में ताड़का को राम बाण की शिकार होनी पड़ी। फल-स्वरूप उस पापिनी को सद्गति मिली। आश्रम में पहुँचकर राम ने विश्वामित्र तथा अन्य मुनि गणों को निर्भय अपने होम प्रारंभ करने की आज्ञा दी। उन्होंने अपना होम प्रारंभ किया। राम-लक्ष्मण सतर्कता से रह गये। उस समय निशाचर समूह चीरते हुए वहाँ पहुँचे। दोनों राजकुमारों ने इन सबका वध कर डाला। इस प्रकार निशाचरों के विघ्नों को समाप्त किया।

निशाचरों की हत्या के बाद विश्वामित्र सहित दोनों राज-कुमार जंगल के कोने में एक सुनसान निर्जीव-सा आश्रम में पहुँचे जहाँ गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या शापवश शिला रूप धारण कर पड़ी थी। विश्वामित्र के अनुरोध पर उस शिला पर अपने पद-पंकज से स्पर्श कर राम ने अहल्या को अपने शाप से मुक्त किया।

---

1. जगदीश चन्द्र माथुर - "दशरथ नन्दन" - पृ:36

तदनन्तर वे जनकपुरि पहँचे जहाँ पर राजा जनक से उनकी भेंट हुई। राजा ने उन्हें अपनी नगरी में आमंत्रित किया। विश्वमित्र से अनुमति माँगकर राम लक्ष्मण को लेकर उस नगरी में घूमने फिरने लगा। नगरवासी तथा बाल बच्चों से उनकी भेंट हुई। वहाँ से लौटते वक्त बच्चों ने उन्हें धनुष यज्ञशाला दिखाया। युवतियाँ उन दोनों को कौतुक भरी दृष्टि से देखने लगीं। बालक गण अधिक जिज्ञासू जान पड़े। वे राम के वस्त्र, पैर आदि छूने में आतुर दिखाई पड़ा। उन्हें यह भय भी है कि राम के चरण-स्पर्श से ही वे कहीं आकाश में उड़ न जाये। क्योंकि उसके चरण छूते ही अहल्या नामक पत्थर की मूर्ति आकाश में उड़ गयी थी।[1] यज्ञशाला देखकर वे जल्दी विश्वामित्र के पास पहुँचे। उसके बाद वे वाटिका की सुन्दरता निहारने वाटिका पहुँचे जहाँ सखियों सहित सीता की भेंट हुई जो गिरिजा मंदिर में पूजा के लिए आयी थी। राम तथा सीता एक दूसरे पर आकृष्ट हो गये। राम असंमजस में पड़ गया। उसने अपनी विवशता भाई के समक्ष व्यक्त की - "यह मुझे क्या हो रहा है? क्या मैं गुरूओं द्वारा दिखाये पथ से विचलित हो रहा हूँ?"[2] सीता ने गिरिजा मंदिर आकर अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए प्रार्थना की। उसके बाद वह सखियों के साथ चली गयी।

दूसरे दिन सीता का स्वयंवर है। विदूर से सभी राजा यज्ञ मण्डप में उपस्थित थे। जनक पुरोहित शतानन्द का आमंत्रण पाकर राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र भी वहाँ पहुँचे। सखियों सहित सीता जयमाला हाथ में पकड़े यज्ञ-शाला के एक कोने में उपस्थित है। धनुष यज्ञ का आरंभ हुआ। कोई भी राजा धनुष को तोड़ न सका। सभी बलशाली राजाओं की असफलता पर राजा जनक दुःखी हो गये। उनकी व्याकुल वाणी सुनकर सीता को भी दुःख हुआ। जनक की आकुल वाणी ने लक्ष्मण को क्रोधी बनाया। उसने अपनी क्रुद्ध वाणी के द्वारा यह व्यक्त किया - "हे नाथ यदि आप के प्रयास के बल से इसे कुकुरमुत्ते की तरह न तोड़ फेंकूँ तो आपके चरणों की शपथ है मुझे, मैं फिर कभी धनुष और तरकश को हाथ नहीं लगाऊँगा।"[3] लक्ष्मण की वाणी सुनकर सभा स्तब्ध हो गयी। जनक

---

1. दशरथ नन्दन - पृः7।
2. वही - पृः80
3. वही - पृः106

की महारानी को यह शंका हुई कि रावण भी शिवचाप को उठा न सका। ऐसे चाप के यह बालक कैसे उठा सकेगा?[1] उन्होंने अपनी बेटी को सांत्वना देने के लिए सखियों से कहा। इसी बीच विश्वामित्र की अनुमति से राम शिवचाप के पास पहुँचा और अनायास ही शिवचाप को तोड़ डाला। सीता ने राम के गले पर जयमाला डाली। सभी राजा अचंभे में पड़ गये। उनसे न रहा गया। वे आक्रोश करने लगे कि सीता का हरण करें, दोनों राजकुमारों को बाँध लें आदि।

शिव धनुष तोड़ने का शब्द सुनकर क्रुद्ध होकर परशुराम वहाँ पहुँचे। उनके आगमन का समाचार सुनकर सभी लोग शान्त हो गये। राजा जनक बेटी के साथ आये और उन्होंने परशुराम से आशीर्वाद माँगा। विश्वामित्र ने भी दोनों राजकुमारों को उनके पास खड़ा करके आशीर्वाद माँगा। इसके बाद जनक से शिवचाप की कथा सुनकर वे क्रुद्ध हो गये। अपने आराध्य देव के धनुष को तोड़ना उनसे न सहा गया। लक्ष्मण की चपलता ने उन्हें अधिक क्रोधी बना दिया। उसने व्यंग्य हँसी के साथ कहा कि उन्होंने बचपन में अनेक धनुष तोडे हैं। यह तो एक पुराना धनुष था। अतः राम के छूते ही वह टूट पड़ा। इसमें क्रुद्ध होने की कोई बात नहीं। लक्ष्मण की इस घमण्डयुक्त बातचीत से वे अधिक क्रुद्ध हो उठे और विश्वामित्र से उसकी शिकायत की कि लक्ष्मण -

कुटिल कालबस निज कुल घालकु।
भानुबंस राकेस कलंकु"[2] है। विश्वामित्र ने लक्ष्मण के अपराध के लिए उनसे क्षमा माँगी। ऋषि के क्षमा माँगने पर उन्होंने उसे मारे बिना छोड़ दिया। राम ने सभी अपराध अपने ऊपर ले लिया और सविनय उनके कुठार के आगे अपना सिर झुका दिया। उसने लक्ष्मण की घमण्डता के लिए माफी माँगी और परशुराम को समझाया कि यदि अन्य मुनियों की भाँति होते तो उनके चरण-रज को अपने सिर पर धारण करते। उनके कुठार को देखकर ही कोई वीर समझकर उनसे लड़ने वह सन्नद्ध हो गया था। राम आगे भी परशुराम से प्रार्थना करने लगा कि वह उनके बराबर नहीं हो सका। वह तो केवल "राम" है लेकिन वे "परशु"युक्त "राम" हैं। उसका तो एक ही गुण है, लेकिन वे तो शम, दम, तप आदि से युक्त

---

1. दशरथ नन्दन - पृः108
2. वही - पृः121

नौ गुणों के अधिपति हैं। वह उनके सामने सब प्रकार से हार गया है। अतः उसके अपराध की क्षमा देना ही चाहिए। वह अनुरोध करने लगा कि पिनाक के पुराने होने के कारण हाथ से छूने पर ही वह टूट गया है। इसपर क्रुद्ध होने की कोई बात नहीं। पुनः उसने संयत स्वर में यह प्रकट की कि ब्राह्मण वंश की ऐसी महिमा है कि जो कोई उनसे डरे वह निर्भय हो जायेगा। राम के ऐसे अनुनय विनय सुनकर परशुराम, राम की महिमा समझ गये। राम से क्षमा माँगकर वे वहाँ से चले गये।

तुलसी तथा उनकी भक्त मण्डली के राम-महिमा-गान से नाटक समाप्त हुआ।

****

सात्विकता की अपराजेयता -

"तमसा"

"तमसोमा ज्योतिर्गमया" की कामना करनेवाली भारतीय संस्कृति ने अनन्तकाल से लेकर मानव मन के सात्विक गुण की शक्तिमत्ता पर बल दिया है। जीवन के हर एक क्षेत्र में गहरे पैठे खौफनाक अन्धकार से जूझने के लिए सात्विक गुणों का ही सहारा लेना पड़ता है, तामसी वृत्तियों से कोसों दूर रहना पड़ता है। दरअसल रामायण का मूल सन्देश भी तामसी वृत्ति के ऊपर सात्विक वृत्तियों की विजय है। "तमसा" में जानकीवल्लभ शास्त्री ने इन दोनों वृत्तियों के आपसी द्वन्द्व और सात्विक वृत्ति की विजय ही दिखाई है।

वाल्मीकि आश्रम में नाटक शुरु होता है। मानवता के मंगल गान से सारा आश्रम मुखरित है। हर एक आश्रमवासी के कण्ठ से यही मंगल कामना निकलती है -

ज्योति प्रभात झरो हे तम संघात पर।
आत्म की शुचिता कलुषित चित, गात पर।।[1]

इसी समय बहेलियों का कोलाहल सुनाई पड़ता है। शान्त तपोवन को दहलाता हुआ बहेलियों का प्रबल दल पहुँचता है। धनुष और बाण धारण करके पिटारियों में जीवित और मृत बहुत से पक्षियों को डालकर हँसते, उछलते वे आगे बढ़ते हैं। गर्वीले भाव से वे नाचते गाते भी हैं। उनकी बर्बरता उनके शब्दों से स्पष्ट है -

पंख पंख जोड़ेंगे,
डैनों को तोड़ेंगे,
हम अपनी गुड़िया के -
सज देंगे बाल जाल।
रंग देंगे होंठ लाल।।
हो - हो - हो हाल हाल।।।[2]

---

1. जानकी वल्लभ शास्त्री - तमसा - पृ:28
2. वही - पृ:30

पंछियों के उड़ने में में करने और बहेलियों के अट्टहास में होड़ सी मच जाती है। दल धीरे-धीरे उधर से निकल जाते हैं। इसी समय अपना शिष्य भरद्वाज के साथ वाल्मीकि स्नान करने तमसा तट पर पहुँचते हैं। प्रकृति के निरीह प्राणियों - पक्षियों - पर बहेलियों का नृशंस व्यवहार देखकर शिष्य बहुत दुःखी हो जाता है। वाल्मीकि अपने शिष्य को प्रकृति के कानून-कायदे के संबंध में समझाते हैं कि प्रकृति का नियम तो ऐसा है, एक जीव दूसरे जीव का जीवन बना रहता है। हर कहीं हिंसा की लोलुप रसना का रक्त घूषण होता रहता है -

बड़े बड़े छोटे छोटों का
रक्त घूण्ड जाता है।[1]

वाल्मीकि उस मानव को धिक्कारता है जो प्रकृति नियमों को नहीं मानता। सागर गहरा है तो भी वह मर्यादा का पालन करता है तथा पहाड़ अपनी ऊँचाई के बावजूद अटूट है। लेकिन मानव में ये दोनों गुण समाहित है, तो भी वह मर्यादा का पालन नहीं करता। कभी कभी वह हिंस्र पशु से भी पतित हो जाता है।[2] इससे मुक्ति मिलने का एकमात्र उपाय यही है कि अहंकार का सिर नीचा करके विनय को अपनाना। वाल्मीकि उस तमसा नदी में स्वच्छन्द तैरनेवाली मछली, मराल, कुररी के जोड़े, बेफिक्र चलनेवाले चकवी के जोड़े आदि को देखकर बहुत प्रसन्न हो जाते हैं, लेकिन झुरमुट की ओट में छिपे रहनेवाले बहेलियों का विचार आते ही उनकी खुशी मिट जाती है -

मर्मर कर उठता है अन्तर
संभावित बर्बरता।
हाय मूर्त्तिके।
दुःख ही उपजाती तेरी उर्वरता?
चंचल लहरें झेल झेल
जल पंछी खेल रहे हैं,
इन प्राणों के अभिनव रव पर
बाणों की जर्जरता?[3]

---

1. तमसा - पृ:32
2. वही - पृ:34
3. वही - पृ:34-35

उस समय वाल्मीकि को उस मृगशावक की याद भी आ जाती है जिसकी छाती किसी जन्तु ने छेदी थी, उसे आश्रम ले आकर उसका उपचार किया, लेकिन उसे वे बचा न सके। उनका सबसे बड़ा दुःख यही है कि पशु हिंस्र है, यह तो उसकी पशुता का ही दोष है लेकिन दयावान त्यागी और संतोषी कहे जानेवाले मनुष्य क्यों इतने बर्बर हो जाते हैं। मनुष्य की क्रूरता पर वे यों प्रश्न कर रहे हैं -

व्याघ्र सिंह जो नर भक्षी,
है उन्हें नहीं नर खाता।
जो पक्षी आमिष-भक्षी,
वह भी क्या उसे सुहाता?
हैं निरीह जो जन्मजात,
तृण-कन्द-फूल-फल-जीवी,
करता हत्या हाय, उन्हीं की,
यह नर-सिंह-विधाता।[1]

वाल्मीकि और शिष्य के बातें करने के बीच बहेलिया तीर चलाता है और चकवा पीले पत्ते की तरह गिर जाता है। चकवी और दूसरी चिड़ियों की चें-चें-आवाज़ भी गूँज उठती है। बहेलिया के नृशंस व्यवहार से शिष्य का मन विचलित हो उठता है। क्रौंच की वेदना से व्यथित होकर वाल्मीकि के हृदय से प्रथम छन्द फूट पड़ता है

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः,
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।[2]

द्वितीय दृश्य में महर्षि वाल्मीकि अपने कुटीर प्रांगण में उदास बैठे हैं। क्रम-क्रम से छहों ऋतुएँ मानवीय आकृतियों में अनुरूप सुसज्जित होकर आती रहती है। एक-एक ऋतु अपनी विशिष्टता का वर्णन कर रही है। वाल्मीकि को ऐसा लगता है कि वे सभी ऋतुओं का गीत सुन रहे हों, सर-सरी-सागर, वन-पर्वत सब मिलकर मानव की महत्ता की घोषणा कर रहे हो। उनके अन्तर्मन से अनजाने यह इच्छा उद्गमित होती है कि वे आगे से लेकर प्रबुद्ध मानवता की घोषणा ही कर

---

1. तमसा - पृः35-36
2. वही - पृः37

रहेंगे। स्वर्ग से बन्धी देव सभ्यता से सौ गुना बढ़कर मानव सभ्यता को ही वे श्रेय मानते हैं। वे मानव की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उसे ईश्वर से भी बड़ा निरूपित करते हैं -

यज्ञ-याग देवोत्सव है,
देवों का भोग न माँग!
तू मनुष्य है, तू सकता है -
भोग-लालसा त्याग!!
कोटि-कोटि योनियाँ,
श्रेष्ठतम तू मनु की सन्तान!
औरों से हो सकता,
तुझसे नहीं बड़ा भगवान!![1]

तृतीय दृश्य में हम चकवे के हत्यारे बहेलिया का मानसिक परिवर्तन देखते हैं। बहेलियों का एक दल तीर-धनुष लेकर इस बहेलिया के घर में आते हैं और उनके साथ आखेट करने के लिए उसे बुलाते हैं। लेकिन बहेलिया अपना दृढ निश्चय उन्हें सुनाता है कि आगे से लेकर वह आखेट नहीं करेगा। खेतीबारी करके शेष जीवन बिताने का निश्चय वह कर लेता है।

चतुर्थ दृश्य में वाल्मीकि और सीता के मिलन का वर्णन है। तमसा के किनारे झुरमुट से किसी की सिसकियाँ भरद्वाज सुनता है। बाद में वह समझ लेता है वह और कोई नहीं बल्कि लोकापवाद की शिकार बनी सीता देवी है जिसे लक्ष्मण वहाँ छोड़ गये हैं। सीता के मिलन से वाल्मीकि की आकांक्षा- राम कथा की परिसमाप्ति - की पूर्ति होती है। इसके फलस्वरूप उन्हें कवि-संस्कार उदित होता है। वह आगे चलकर राम कथा में परिणत कर कवि को अमर कर देता है।

नाटक में वाल्मीकि और बहेलिया के मानसिक भावों का संघर्ष दिखाया है। बहेलिया तामसी वृत्ति का तथा वाल्मीकि सात्विक वृत्ति का

---

1. तमसा - पृ: 46

प्रतीक है। वाल्मीकि का क्रन्दन ही बहेलिया के मानसिक परिवर्तन का कारण बनता है। अपने द्वारा किये गये पापों पर पश्चाताप करके सही मार्ग को अपनाने-वाले बहेलिया का चित्रण करते हुए जानकी वल्लभ शास्त्री ने तामसी वृत्ति पर सात्विकता की विजय स्थापित की है।

****

अध्याय - 4

महाभारत पर आधारित नाटक

अध्याय-4

महाभारत की महत्ता

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को ज्योतित करनेवाले ग्रन्थों में रामायण के समान महाभारत भी शीर्षस्थान पर विराजमान है। भारतीय चिंतन धारा के अनवरत प्रवाह में वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक यह विचारधारा युगीन परिवर्तन के साथ हमारे सामने प्रस्तुत है। चिन्तन के इस सहज विकास में जीवन और जगत के प्रति जिन सिद्धांतों का निर्माण हुआ है, अमानवीय शक्ति की रूप कल्पना में जिन दर्शनों का उदय हुआ है वे किसी न किसी रूप में "महाभारत" में विद्यमान है। यह इतिहास है, काव्य है, स्मृति है, आचार ग्रन्थ है, धर्म-शास्त्र है और कुछ भी शास्त्र शब्द की परिधि में आ सकता, वह सब कुछ इसमें समाविष्ट है। जवाहर लाल नेहरू की राय में महाभारत एक खजाना है जिससे सभी प्रकार की अनमोल चीज़ें मिल सकती हैं।[1]

---

1 "The Mahabharata is a rich store house in which we can discover al manner of precious things. It is full of a varied abundant abd bubbling life something for removed from that other aspect of Indian thought whcih emphasised asceticism and nagation". - 'Discovery of India' - Jawaharlal Nehru - P.III.

अदम्य साहस का संवाहक -

"चक्रव्यूह"

प्राचीन परंपरा की पुरानी लीक पर आँखें मूँदकर चलनेवाले लेखक अपनी रचना के लिए पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाते समय कभी भी उन प्रसंगों में कोई हेर-फेर नहीं करते। पौराणिक प्रसंगों पर नये सिरे से लिखनेवाले ही पौराणिकता के रूप पर नया प्रकाश डालते हैं। यह प्रकाश ऐसा है जो हमारी बुद्धि का है और हमारी भावनाओं का है जिसमें पौराणिक चरित्र अपने शुद्ध मानवीय रूप में हमारे सामने खड़े होते हैं, जिनके भीतर हमें अपने राग-विराग मिलते हैं। पौराणिक आख्यान को अधिक से अधिक मानवीय और बुद्धिसंगत रूप देने का प्रयत्न ही ये लेखक करते हैं। "चक्रव्यूह" नाटक लक्ष्मीनारायण मिश्रजी के इस प्रयास का प्रमाण है जहाँ उन्होंने महाभारत के पात्रों को अनासक्त वृत्ति से परखा है। नाटक के पूर्वरंग में मिश्रजी ने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि किसी के प्रति भी निजी लगाव नहीं, न्याय का अवसर सबको समान मिलता है और संवेदना के आँसू भी सबके लिए समान है। पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों को पुण्य का प्रतीक न मानकर अपने परंपरा के स्वाभाविक मानव का रूप दिया गया है।[1]

चक्रव्यूह के घटनाक्रम पर नाटक रचित है जिसमें युद्ध की प्रधानता है। महाभारत युद्ध के तेरहवाँ दिन द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह में अपनी सेना खड़ी की। द्रोणाचार्य को यह मालूम है कि चक्रभेदन कला अर्जुन को छोड़कर केवल भगवान कृष्ण और प्रद्युम्न ही जानते हैं। चक्रव्यूह की रचना करते समय कौरव पक्ष अर्जुन को कुरुक्षेत्र से पाँच योजन दक्षिण संसप्तक युद्ध में ले गया जिससे इस व्यूह की सूचना उसे न मिले। उन्हें यह भी मालूम है कि प्रद्युम्न युद्ध से विरत है। कुरुक्षेत्र भूमि में जिस समय पहला शंख बजा बलराम के साथ वह भी तीर्थाटन के लिए चला गया। चक्र के आकार का वह व्यूह सात मण्डल चक्रों में बना है। हर मण्डल द्वार का रक्षक कोई प्रधान वीर एक लाख सेना और सहचरों के साथ सुमेरु समान अडिग भाव से खड़ा है। प्रधान द्वार और

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र "चक्रव्यूह" - पूर्वरंग - पृ:5

मण्डल द्वारों पर चारण विजय उत्कर्ष का गीत गा रहे थे। क्षीर समुद्र से अधिक गंभीर ध्वनि व्यूह से निकलकर दिशाओं में भर रही थी। इस कठिन व्यूह के संबंध में चर की उक्ति बिलकुल सही लगती है - "यमपुरी से भी भयानक उस व्यूह की सारी बातें एक सांस में कह देना विध्य को जल पर तैरना होगा।[1]

प्रधान द्वार का रक्षक सिंधुराज जयद्रथ है। व्याघ्र चर्म मंडित सोने और रत्नों से बना उसका रथ आकाश गामी सूर्य के रथ से होड़ ले रहा था। वह शंकर से यह वरदान प्राप्त कर आया है कि अकेले अर्जुन को छोड़कर किसी भी दूसरे रथी को व्यूह में घुसने न देगा।

व्यूह भेदन के पिछले दिन संयोग से एक ही समय अभिमन्यु तथा लक्ष्मण दोनों की भेंट पितामह भीष्म से हुई। बाण शय्या पर पड़े होते हुए भी उनकी चिन्ता कुल के मंगलमय भविष्य की है। उन्होंने इन दोनों बालकों को उस दिन के युद्ध से दूर रहने का उपदेश दिया। क्योंकि उनकी कामना केवल कुल की रक्षा ही है। दोनों बालकों से भीष्म ने जो कुछ कहा इसका प्रमाण युधिष्ठिर से व्यूह भेदन के लिए अनुमति माँगते वक्त अभिमन्यु की बातों से व्यक्त हुआ है - "आज के युद्ध में अच्छा हो हम दोनों में कोई न लड़े, नहीं तो वे बाण शय्या पर अभी जीवित रहेंगे और कुरूवंश का अन्त हो जायेगा।"[2] उन्हें दुःख है कि यदि अभिमन्यु युद्ध के लिए जाये तो उसकी मृत्यु अवश्य होगी क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि अभिमन्यु व्यूह की कला जानता है। व्यूह भेदन के बाद, अभिमन्यु तथा लक्ष्मण की मृत्यु के बाद पितामह ने अपनी अंतिम कामना गुरु द्रोण, सुयोधन तथा अर्जुन के सम्मुख व्यक्त की। उनकी कामना है - अभिमन्यु और लक्ष्मण को जिन देवियों ने जन्म दिया, उन दोनों के बीच में राजवधु उत्तरा बैठें दोनों के हाथ उसके शीश पर रहें मन और चिन्ता से, दोनों कुल के भावी मंगल की कामना महादेव से करें।[3] अपनी अपनी कामना को संपन्न कराने के लिए उन्होंने दोनों को वहाँ से भेजा जिससे उनकी ही परंपरा बनी रहे।

---

1. चक्रव्यूह - पृः13
2. वही - पृः22
3. वही - पृः132

जब युधिष्ठिर ने यह जान लिया कि अपने विरुद्ध गुरु द्रोण ने चक्रव्यूह बनाया है तो उसने अपनी यह आशा व्यक्त की कि अर्जुन को संसप्तक से लौट आने की सूचना दी जाय। लेकिन भीमसेन के हीन पौरुष अर्जुन को लौटा देने की बात न मानी। उसका हीन पौरुष जाग उठा - "अकेले अर्जुन को लड़ना था तो उस सेना की, इन सेनापतियों की क्या आवश्यकता थी?"[1] वह तो अपनी वीरता से व्यूह के सात द्वारों को खोल लेने के लिए तैयार है। वह व्यूह से वैसे ही टक्कर लेने को तैयार है जैसे समुद्र की लहरें तट भूमि से टक्कर लेती है।[2] यद्यपि वह व्यूह भेदन की कला नहीं जानता तो भी युधिष्ठिर से अपनी वीरता से चक्रव्यूह तोड़ने का आदेश चाहता है। वह कभी नहीं चाहता है कि पाण्डव पक्ष शत्रु के सामने बिना युद्ध किये अपनी पराजय स्वीकार करें। युद्ध के लिए अनुमति न देने से उसने युधिष्ठिर के ऊपर व्यंग्य बाण छोड़ा - "धर्म का राजा धरती का राजा नहीं हो सकेगा। आप दिन भर इसी मंत्रणा-शिविर में अपने सेनापतियों के साथ दोनों हाथ बाँधकर मंत्रणा करें, नींद आने लगें, चुपचाप यहीं लेट जाइयेगा।"[3] उसने व्यक्त किया कि दुर्योधन इस बात का ज्ञाता है कि धर्मराज इस धरती पर अमर बनकर रहना चाहते हैं, अपने भाइयों के लिए, अपने एक-एक जन के लिए उनके भीतर यही कामना है, यही उसका बल भी है।

अभिमन्यु पितामह के यहाँ से युधिष्ठिर के पास आया। रास्ते में व्यूह के द्वार से जयद्रथ का व्यंग्य सुनकर उसने व्यूह भेदन के लिए अपने तात से अनुमति माँगी। आचार्य द्रोण को भी इसका पता नहीं था कि उनके व्यूह को अभिमन्यु उसी तरह उड़ायेगा जैसे आँधी सेमर की रुई उड़ाती है। अभिमन्यु को व्यूह भेदन में न जाने का भीष्म का आदेश जानकर युधिष्ठिर ने उसे रोका। उन्हें विश्वास है कि पितामह की बात अदृश्य के ललाट की लिपि है। उन्हें यह ज्ञात है कि अर्जुन को छोड़कर और कोई पाण्डव पक्ष व्यूह भेदन की कला नहीं जानते। लेकिन अर्जुन के पास आदेश भेजने से अभिमन्यु ने उन्हें रोका क्योंकि उसे विश्वास है कि संसप्तक के एक सहस्र हाथियों और एक लाख सेना को बिना मारे अर्जुन नहीं लौटेगा। उसने

---

1. चक्रव्यूह - पृ:16
2. वही - पृ:16
3. वही - पृ:17

तात को यह विश्वास कराया कि माँ के शिविर में, उनके शयन कक्ष में भगवान शंकर के चित्र के साथ चक्रव्यूह का चित्र भी नित्य देखकर पलंग से उठता था। जब उसकी माँ प्रसव पीड़ा से तड़प रही थी, तो माँ की पीड़ा अधिक न हो, यह सोचकर पिता ने अपने हाथ चक्रव्यूह का चित्र बनाकर उन्हें दिखाया था। तब से वह चित्र बराबर उनके शयन कक्ष में या शिविर में, जहाँ कहीं सोयीं लगा रहा। उसी चित्र के आधार पर पिता ने दो दिन पहले रात को उसे व्यूह भेदन की कला का ज्ञान दिया है। व्यूह के मुख्य द्वार से प्रवेश कर शेष छः मण्डलों के छः द्वार पार कर अंतिम द्वार - नाभि मण्डल - तक उसे कोई न रोक सकेगा। अपनी वीरता पर उसे विश्वास है - "सुमेरु हिल जाय, समुद्र सूख जाय, मध्याह्न में ही सूर्य अस्त हो पर व्यूह के नाभिमण्डल तक कोई मुझे न रोक सकेगा। शत्रु चाहे इन्द्र, मरुत, वरुण और अग्नि के अंश से लड़ें, फिर भी व्यूह प्रवेश में कोई बाधा न होगी।"[1] लेकिन गर्भमण्डल से बाहर निकलने की कला उसे नहीं मालूम है। तो भी यह धैर्य उसे है कि उसके पीछे चाचा भीमसेन, मामा धृष्टद्युम्न या महारथी सात्यकी होंगे। उसे यह भी विश्वास है कि जब व्यूह से बाहर आने का वक्त आयेगा तो पिता संसप्तक से लौट आयेंगे और उसकी रक्षा करेंगे। उसकी राय में पितामह के प्रलोभन में पड़कर तथा अपने प्राण के लोभ से युद्ध क्षेत्र से मुँह मोड़ना कायरता है। युधिष्ठिर को बेटा अभिमन्यु के आगे "हाँ" मानना पड़ा। उन्होंने विवश होकर व्यूह भेदन की अनुमति दी और यह आशीर्वाद दिया - "जन्म-जन्मान्तरों में जो कुछ पुण्य मेरे बचे हों, अमोघ कवच बनकर तुम्हारी रक्षा करें। आकाश में जब तक सूर्य और चन्द्र रहें, धरती पर जब तक गंगा रहे तुम्हारा यश अक्षय रहे।"[2]

युधिष्ठिर से व्यूह भेदन की अनुमति माँगकर अभिमन्यु अपनी माता और पत्नी के पास पहुँचा। वहाँ उसकी भेंट दोनों माताओं से हुई। द्रौपदी ने उसे युद्ध क्षेत्र जाने से रोका। उसने पुत्र के प्रति अपना मोह व्यक्त करता हुआ कहा - पुत्र का मोह प्रकृति का सबसे बड़ा आकर्षण है, पुत्र![3] तो वह माता का स्वार्थ समझा। यदि यह प्रेम परमार्थ है तो द्रौपदी ने भूमण्डल के वीरों को क्यों मरने दिया जो वीरता के मानदण्ड थे, जिनके बल से धरा की धीरता थी? लाख-लाख वीरों के मर

---

1. चक्रव्यूह - पृ:24
2. वही - पृ:24
3. वही - पृ:26

जाने पर अब तुम्हें मेरा मोह क्यों हो रहा है? क्या उनकी माताएँ नहीं थीं? सगे-संबंधी नहीं थे उनके? उनकी स्त्रियाँ नहीं थीं, उनके हृदय में प्रेम नहीं था या उनकी आँखों में आँसू नहीं थे।[1] वह अपनी पत्नी के पास पहुँचने के लिए व्यग्र है क्योंकि वह पिछली रात से अपने बुरे स्वप्न के बारे में सोचकर व्याकुल पड़ी रही थी। पति के प्रति उसका जो धर्म है, उसका बोध कराकर उसके हाथ से ललाट पर तिलक लेकर युद्ध क्षेत्र जाना उसके लिए मंगल कार्य है। उसे रोते छोड़कर जाने का अर्थ होगा युद्ध में पराजित होना। उसकी विजय की मूल शक्ति पत्नी ही है। अपने पति के युद्ध क्षेत्र जाने की बात सुनकर उत्तरा ने भी युद्ध क्षेत्र जाने की अपनी इच्छा प्रकट की जैसे कि कैकेई दशरथ के साथ युद्ध में गयी थी। अभिमन्यु ने उसे समझाकर कहा - वह युग चला गया। वीरों के रथ पर अब देवियाँ नहीं बैठतीं युद्ध में।[2] अपने भावी पुत्र की रक्षा का दायित्व उसपर सौंपकर अपने पौरुष और विक्रम का विश्वास दिलाकर वह युद्ध क्षेत्र जाने को तैयार हो गया। माता सुभद्रा ने भी उसे युद्ध क्षेत्र जाने से रोका। उन्हें भी ज्ञात है कि व्यूह से बाहर निकलना उसके वश की बात नहीं है। उसने पुत्र से विनती की - "नहीं चाहिए मुझे यह राज्य। राज्य के मोह में धर्मराज पुत्र को भी पाँसे पर रखने चले हैं, नहीं होने दूँगी मैं।[3] तो द्रौपदी ने उसे समझाया - "हमारे पक्ष में जो भार किसी से न चला उसे तुम्हारा पुत्र उठा रहा है, यह सुनकर शत्रु दाँतों तले उँगली दबा रहे हैं।"[4] यहाँ तक कि आचार्य द्रोण और कर्ण भी अभिमन्यु की इस वीरता के प्रति चिन्तित हैं। अभिमन्यु ने भी अपनी माँ को समझाया कि अपनी इस छोटी-सी आयु का, इस शरीर का, यौवन और विक्रम का सबसे बड़ा धर्म इस समय और क्या है? जब तक यह धरती रहेगी, आकाश रहेगा आकाश में सूर्यदेव रहेंगे तब तक वीर का धर्म धरती पर रहेगा। विदा के पहले उत्तरा ने अपने मन की यह शंका व्यक्त की कि दोनों के सोलहवें वर्ष की सन्तान अशुभ होती है। अपने मन के दुःख को भूलकर

---

1. चक्रव्यूह - पृ:26
2. वही - पृ:33
3. वही - पृ:35
4. वही - पृ:36

जब तक अपने पुत्र को अपने शरीर की आवश्यकता पड़े तब तक जीवित रहने का वादा देकर उसने पति को विदा किया। अभिमन्यु के चले जाने के बाद वह मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ी रही। अनजाने में उसके हाथ का वलय नीचे गिर पड़ा। जब इस अमंगल की सूचना सुभद्रा को मिली तो दोनों माताएँ शिव की पूजा करने लगीं जिससे कि उस अमंगल का फल उनपर न पड़े।

रण भूमि में लक्ष्मण ने अभिमन्यु से मिला तो उसने पितामह की कामना का ध्यान दिलाया। अभिमन्यु ने उसे समझाने का प्रयास किया कि मनुष्य की सारी कामनाएँ जिस दिन पूरी हो जायेंगी, यह धरती स्वर्ग हो जायेगी। पर इस धरती को स्वर्ग नहीं होना है। जीव-कर्म के बन्धन जितने विषम होते हैं वीर-कर्म के बन्धन भी उतने ही विषम हैं। पितामह भी मनुष्य हैं, वे मनुष्यों में देवता है यही कहोगे। पर वे मनुष्य हैं पहले और फिर पीछे देवता।[1] पितामह को यह भय है कि उनकी भावी पीढ़ी उन्हीं के सामने न मिटे। इसी कामना में वे रो पड़े। पर उनकी यह कामना पूरी नहीं होगी क्योंकि उनके ललाट में विधाता ने जो रेखा खींची है उसमें तो उनके कुल का नाश तभी तक है जब तक उनकी साँसें चल रही हैं। उसने लक्ष्मण से अपनी आशा प्रकट की कि लक्ष्मण इस युद्ध में न लड़े जिससे कि पितामह की आधी कामना रहेगी। उसका अपना विश्वास उसने लक्ष्मण के सामने व्यक्त किया, यदि इस चक्रव्यूह को वह न तोड़ सका देव, दैत्य, यक्ष और गन्धर्व विजयी तात के रहते, त्रिलोकपति कृष्ण के रहते अपने पक्ष का हार होगा। गुरु द्रोण ने भी अभिमन्यु को युद्ध क्षेत्र से लौट जाने की विनती की पर उसने उनकी एक न सुना। वह गुरु से हाथ जोड़कर कहने लगा - गज दल की गर्जना सिंह का बालक नहीं सह सकता। किसी पाण्डव के निधन को आपने यह व्यूह रच दिया। महारथ कैसा होता है, इसका बोध मुझे नहीं है, रथ पर चढ़कर आया हूँ। आज के युद्ध में आप मुझे जो स्थान देंगे सिर झुकाकर मैं उसे स्वीकार करूँगा।[2] गुरु को यह भय है कि वह व्यूह में घुसकर न निकल सके। निकलने की विधि पच्चीस वर्ष के बाद ही लोग जानते हैं। इस अवधि तक शिष्य बनकर जो नहीं रहता और पहले ही वीर बनकर रण-भूमि में ऊधम मचाता है, उसे यह विधि कभी नहीं आती। अपने पास खड़े लक्ष्मण से व्यूह के अंतिम द्वार पर,

---

1. चक्रव्यूह - पृ:50
2. वही - पृ:53

यम वाहन के कण्ठ की घण्टी जब उसके कानों में सुन पड़ेगी तब समर कर उसके साथ ही सूर्य मण्डल को पार करने का वचन देकर व्यूह भेदन के लिए निकल पड़ा। यह देखकर आचार्य विस्मय होकर खड़े रहे। उन्हें अब भी विश्वास नहीं है - सोलह वर्ष की आयु में अभिमन्यु इस कला को जान गया, इसका विश्वास मुझे नहीं होता। हो सकता है कि प्रवेश की विधि वह जानता है। पर .....[1]

अभिमन्यु का रथ व्यूह के भीतर घुस गया। भीमसेन और धृष्टद्युम्न भी उसके पीछे चले हैं। जयद्रथ प्रधान द्वार पर खड़ा है। वह शिव जैसे शक्ति संपन्न होकर शत्रु से यों लड़ रहा है जैसे महा समुद्र की लहरें तट की पर्वत से टकरा कर छितरा रही है। उसके अंग-अंग से रुद्र-तेज फूट रहा था। भीमसेन सात्यकी और धृष्टद्युम्न हथेली में प्राण लेकर प्रयत्न कर रहे थे पर किसी की नहीं चली उसके सामने। वह पिनाकी बनकर लड़ रहा था। उसके आगे धृष्टद्युम्न, सात्यकी सब विमूढ हो गये। वह प्रलय का रुद्र जान पड़ा। उसके ललाट के त्रिपुंड से रुद्र का तेज निकलकर दिशाएँ जली रही थीं। लेकिन अभिमन्यु, जो अर्जुन का अंश है, उसे हार कर आगे चला। सुयोधन के कहे अनुसार द्रोण जयद्रथ की रक्षा करने के-लिए सन्नद्ध हो गये। लेकिन बालक अभिमन्यु का प्रतिद्वन्द्वी बनना वे नहीं चाहते। उन्होंने सुयोधन से यह व्यक्त भी किया - "उसके हाथ अपने वध की कामना मैं करूँगा, पर अपने हाथ उसके वध की नहीं। बालक अभिमन्यु मेरा प्रतिद्वन्द्वी बने, यह गौरव मैं उसे न दूँगा।[2] शत्रु पक्ष में होने पर भी शत्रु पक्ष का नाश वे नहीं चाहते। अभिमन्यु को व्यूह भेदन की कला मालूम है यह बात पहले ही द्रोण जानते तो वे चक्रव्यूह की रचना न करते। उन्हें यह भय है कि अभिमन्यु का अन्त उनके यश का कलंक होगा और उसी के साथ पाण्डु कुल का अन्त भी। कुल के नाश का दुःख पितर पितृलोक में भोगेंगे।

गुरु द्रोण अभिमन्यु की वीरता पर मुग्ध है। उन्हीं के शब्दों में यह व्यक्ता हुआ है - वीणों की गति में वेदान्त के सूत्रों को देखनेवाला सुभद्रा-पुत्र वीरों में विस्मय है। उसके ललाट से सूर्य की किरणें फूट रही हैं। धनुष की डोरी में आज वह अपना प्राण बाँध कर चला है।[3] शत्रु पक्ष के प्रति प्रशंसा करने से उनका

---

1. चक्रव्यूह - पृ:55
2. वही - पृ:63
3. वही - पृ:56

पाण्डव प्रेम व्यक्त हुआ है। सुयोधन ने भी इसकी सूचना दी - शत्रु पक्ष की आप बराबर स्तुति करते हैं। पहले अर्जुन की करते थे, आज उसके पुत्र की।[1] उन्होंने भीम से भी अभिमन्यु की रक्षा के लिए कहा - अपने कुल का दीपक न बुझने दे, आज।[2]

व्यूह के मध्य भाग की रक्षा सुयोधन के हाथों में है। अभिमन्यु हर एक द्वार इस वेग से मथ रहा था जिस प्रकार महा समुद्र में राघव का जो वेग होता है। वृष के सूर्य किरण से बाण उसके धनुष मण्डल से निकलकर कौरव सेना को भस्म करते रहे। जयद्रथ की बाण-वर्षा ने उसे हतहीन कर रहा था। यह देखकर दोनों ओर की सेनाएँ चित्रपटी से निश्चल थीं। कौरव सेना की दशा ऐसी थी जैसे कि अथाह समुद्र में जलयान जब बीच-बीच से टूट गया, उसपर चढे प्रवासियों की जो दशा है।

युद्ध क्षेत्र में गुरु द्रोण को पाकर धृष्टद्युम्न से न रहा गया। वह उस दिन की सभी दुर्घटनाओं के वाहक द्रोण को मारने के लिए पहुँचा। उसके मुँह से अपने गुरु की भत्सना सुनकर भीमसेन को क्रोध आया। उसने धृष्टद्युम्न को चेतावनी दी कि गुरु की, पिता की, धर्म और माता की निन्दा मैं नहीं सुनता। यह भी सुनाया कि चक्रव्यूह उसके अपने पाप का फल है। उसने यह व्यक्त किया कि यदि घर आये अतिथि का अपमान द्रौपदी से न हो सके तो यह व्यूह नहीं रचेगा। इस संकट की घड़ी में वे दोनों व्यूह के अन्दर घुसने का परिश्रम करें या वहीं खेत रहें। व्यूह के अन्दर घुसने में वह असमर्थ सिद्ध हुआ और उसने जयद्रथ के वरदान को कोसा। उसे यह भय है कि अपने लोकजयी अर्जुन का उन्माद इस सारी सृष्टि का कहीं नाश न करेगा। सब उसके शत्रु रहेंगे। उसके पुत्र को न बचा पाये तो गाण्डीव की अग्नि उनके सिर पर बरसेगी। भीमसेन तो उन्माद में आकर जयद्रथ से जूझ रहा था। सात्यकी भी अपने दुर्भाग्य पर कोस रहा था - आत्महत्या जो पाप कर्म न होता तो अपने ही खड्ग से मैं अपना शीश इस व्यूह को भेंट कर देता।[3] उसे यह दुःख था कि यदि बीस वर्ष की आयु से आयुध जीवि न बन गया होता, पाँच वर्ष और रुका होता, चक्रव्यूह की विद्या का वह अधिकारी बन जाता। अभिमन्यु के वध का कारण उसने अपने को माना। अर्जुन के सामने उसने अपनी गलती को माना भी है - आपसे

---

1. चक्रव्यूह - पृ:57
2. वही - पृ:68
3. वही - पृ:73

अधूरी विद्या लेकर जो वीर न बन गया होता, हिंसा बुद्धि से समय के पहले ही आततायी बनने का मोह रोक पाता तब तो चक्रव्यूह की कला मुझे आ गयी होती। आपने मना किया था तात! तब नहीं सूझा, अब सूझ रहा है। प्रियदर्शन अभिमन्यु के वध का पाप मेरे सिर पर है।[1]

अभिमन्यु धनुष पर बाण चढ़ाए रुद्र नृत्य सा लड़ रहा था। उसकी आँखों से, ललाट से अग्नि की लौ सी फूट रही थी। उसके बाणों का मंडल जो सब ओर से पूरा हो चुका था। उसे तोड़कर शत्रु जब तक न आये तब तक उसे विश्राम का अवसर मिलता। अपनी शक्ति पर उसे दृढ़ विश्वास है। उसका विश्वास इतना दृढ़ है कि कोई भी उसे परास्त न कर सका - "इन्द्र, वरुण, यम, स्वयं भवानी-पति शंकर से भी आज वह समर करेगा।[2] वह तो आज व्यूह के सातवें चक्र मंडल तक पहुँच गया है। उसके आगे कहीं निकट ही गर्भमंडल है, जहाँ पहुँचकर वह विजय का शंखनाद करेगा। यहाँ से उसे दुशासन से युद्ध करना है। उसने सुमंत्र से कहा - बढ़ाओं रथ उसी ओर, जिस हाथ से उसने माता का केश पकड़ा उसे काट फेंकूँ .....[3] तीनों पहरों में शत्रु-सेना का नाश कर विश्व विजयी महारथियों का नाश वह अकेला कर रहा था। आचार्य द्रोण उस बालक की वीरता की प्रशंसा करते रहे थे - सोलह वर्ष का किशोर महारथियों को विस्मय के समुद्र में बोर रहा था। धनुर्वेद की गरिमा जो कभी देखी सुनी नहीं गयी यह दिखाता चला जा रहा था। मध्याह्न के सूर्य सा यह इस कालव्यूह में अब भी दप्त है। वीरता की इस विभूति की प्रशंसा कौन वीर नहीं करेगा? गुण की प्रशस्ती में शत्रु मित्र का विचार नहीं करते भद्र![4] कर्ण, गुरु पुत्र और कृपाचार्य भी इसके आगे पराजित है - गुरु पुत्र को इसके नौ मर्मभेदी बाण लगे हैं, कर्ण को सत्रह, कृपाचार्य और दूसरी महारथियों की भी यही दशा है।[5] इनको परास्त कर अभिमन्यु गर्भमंडल में पहुँचा। अब सुयोधन से न रहा गया। वह गुरु द्रोण से कह उठा - आपके रचे इस व्यूह की मर्यादा जो देवों से न मिटती ..... देव सेनापति और इन्द्र जिसमें समर्थ न होते वही कार्य

---

1. चक्रव्यूह - पृः।।।
2. वही - पृः76
3. वही - पृः78
4. वही - पृः79-80
5. वही - पृः8।

सुभद्रा पुत्र कर रहा है। गर्भमण्डल में लक्ष्मण को उसे सामना करना पड़ा। लक्ष्मण को देख उसे दया आ रही थी। लक्ष्मण के हट जाने की उसने अपनी आज्ञा व्यक्त की। लेकिन लक्ष्मण मानता नहीं। उसने अपना लक्ष्य प्रकट किया - माता ने अपने दूध की लाज रखने को भेजा है, मुझे।[1] दोनों शत्रुता से दूर अनासक्त भाव से युद्ध कर रहे थे। युद्ध में अभिमन्यु का तीन पहर बीत चुका, चौथा भी चल निकला पर उसका धनुष अलातचक्र जो अब बना अभी वैसा ही है। सूर्य का तेज भी घटता है पर उसके तेज का ह्रास नहीं है। युद्ध में दोनों की ज्या एक साथ कटी। कुछ देर तक वे दोनों मंत्रमुग्ध सा देखने लगे। इनका युद्ध ऐसा लगा जैसे - दो सूर्य, दो रुद्र, दो यम लड़ रहे हैं।[2] दोनों के धनुष घूम-घूमकर वीरों के हृदय में हर्ष और कायरों के हृदय में भय भर रहे थे। युद्ध में लक्ष्मण की मृत्यु हुई। गुरु द्रोण को यह ज्ञात है कि जब तक अभिमन्यु के हाथ में शस्त्र है तब तक उसे कोई न हारेगा। अपने शस्त्र का लक्ष्य उसके शरीर को न बनाकर इसके शस्त्र को काटे तभी उसे परास्त कर सकेगा। द्रोणाचार्य से यह भेद जानकर कर्ण उसकी ज्या काटने लगा तो वह अपनी ज्या न बचा सका। अभिमन्यु का अगला बाण उसका कवच भेदकर हृदय पर लगा और वह अधमूर्छित पड़ा। अंत में गुरु द्रोण के आगे उसे युद्ध करना पड़ा। तीन बार धनुष की प्रत्यंचा काट डालने के बाद उसने अपने धनुष को फेंक दिया। इसके बाद चक्र से युद्ध किया। द्रोण ने अपने बाणों से चक्र का खंड-खंड कर गिरा दिया। अंत में वह रथ का चक्र हाथ में लेकर भैरव नृत्य करने लगा - जैसे भूमि के उद्धार में भगवान वराह की जो गति समुद्र के अतल में थी कुछ वैसे ही गति इस समय इसकी है।[3] युद्ध करते-करते अंत में वह धराशायी हो गया तो जयद्रथ ने गदे से उसके सिर पर प्रहार किया। इस प्रकार उस वीर बालसिंह का अंत हुआ। जयद्रथ से उसकी रक्षा करने सुयोधन दौड़ा, लेकिन वह उसे बचा न सका। अपने भतीजे का यह जघन्य पाप सुयोधन न सह सका। उसने अपना विरोध प्रकट किया - मृत सिंह के शव पर दाँत मारनेवाले जम्बुक! तब कहाँ था तू?[4] वह लक्ष्मण का निधन भूलकर अभिमन्यु के सिर को अपनी गोदी में रखकर पश्चाताप करने लगा।

---

1. चक्रव्यूह - पृ:82
2. वही - पृ:90
3. वही - पृ:95
4. वही - पृ:96

अभिमन्यु की मृत्यु ने पांडव भाइयों को दुःख के सागर में डुबो दिया। युधिष्ठिर दुःख से इतना विभोर है कि उसने संसप्तक से अर्जुन के आने के पहले ही अभिमन्यु की राह लेना चाहा। द्रौपदी को पुत्र शोक के साथ-साथ अभिमन्यु के निधन में अभिमान भी है क्योंकि दिन भर सूर्य की भांति रण भूमि को तपा कर सौ-सौ रथियों को सूखे पत्ते सा उड़ाकर हमारा नाम जितना अभिमन्यु के कारण चलेगा उतना अपने कारण नहीं। मनुष्यों में जो दैव है, उसके युद्ध को विस्मय से देखते रहे हैं, देवता भी देखते रहे होंगे, आँखोंवालों ने देखा होगा।[1] द्रौपदी को दुःखी देखकर युधिष्ठिर उसे व्यंग्य करने लगा। उसकी राय में द्रौपति के आँसू राजनीति के हैं, अभिमन्यु का अनुराग उसमें नहीं बहा, तो द्रौपदी ने उसका उत्तर इस प्रकार दिया कि उसका अनुराग उसी क्षण सूख गया जिस क्षण दुशासन ने उसके केश खींचा था, जब उसके कंधों का वस्त्र नीचे धरती पर गिरा था और जब उसकी आधी देह नंगी हो गयी थी।[2] अपनी बहन के प्रति किया गया व्यंग्य धृष्टद्युम्न न सह सका। उसने युधिष्ठिर को समझाया कि जो बीत गया उसे लौटाने से कोई लाभ नहीं है।

संसप्तक से लौटे वक्त निःशब्द वातावरण से अर्जुन को जान पड़ा कि कोई अनिष्ट हुआ है। उसे यह अनुभव हुआ कि धरती और आकाश जल रहे हैं। युधिष्ठिर के मुँह से पुत्र के निधन की बात सुनकर अर्जुन शिविर में खड़े लोगों से क्रुद्ध होकर कहने लगा - तुम्हारे शस्त्र श्रृंगार के लिए हैं। जाल में फँसे तरुण सिंह की तरह पुत्र मारा गया और तुम सब जी रहे हो? मरते भी नहीं बना तुमसे?[3] पुत्र वियोग ने उसे कठोर बना दिया। उसने अपने पुत्रघाती जयद्रथ को अगली सन्ध्या तक वध करने का शपथ लिया - सूर्य पिण्ड जब तक आकाश में रहेगा जयद्रथ को यह लोक छोड़ने पड़ेगा।[4] इन्द्र और यम, शंकर और विष्णु भी उसे न बच सकेंगे। यदि उसकी प्रतिज्ञा की पूर्ति न होगी वह अग्नि में कूद मरेगा। उसने निराहार रहकर जयद्रथ से लड़ने को भीष्म के आगे शपथ कर लिया। अपने पुत्र के अंतिम समय में उसके प्रति सुयोधन का व्यवहार सुनकर अर्जुन के भीतर का शत्रु भाव दूर हो गया। उसने सुयोधन से युद्ध की निरर्थकता व्यक्त किया - अब हमें केवल समर के लिए कर्म करना है। इस

---

1. चक्रव्यूह - पृः100
2. वही - पृः101
3. वही - पृः108
4. वही - पृः115

दारुण युद्ध का फल यही हो कि इस भूमि में जो जन्म लें जीवन मोह में फँसकर कायर न बनें नहीं तो एक साथ जितने वीर यहाँ मरें और मरेंगे, उन सबका धर्म डूब जायेगा।[1] उनकी आशा है कि यह युद्ध लोक चेतना का सबसे प्रधान वाहक बने।

वस्तु चयन के लिए मिश्रजी ने "महाभारत" का सहारा अवश्य लिया है। लेकिन घटनाओं में अनुकूलता और औचित्य लाने के लिए उसमें कुछ परिवर्तन भी प्रस्तुत किये हैं। पात्रों और घटनाओं को अपनी मौलिक उद्भावनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करके उन्हें अधिक से अधिक मानवीय और बुद्धिसंगत देने का प्रयास किया है।[2] "महाभारत" के अनुसार जब अभिमन्यु सुभद्रा की कोख में था तब सुभद्रा और अर्जुन के बीच चक्रव्यूह भेदन के संबंध में जो बातचीत हो रही थी उसे सुनकर उसने चक्रव्यूह भेदन की कला समझी थी। लेकिन मिश्रजी को यह बिलकुल अविश्वसनीय लगा होगा और उन्होंने इस प्रसंग की बुद्धिवादी व्याख्या यों की कि अर्जुन ने सुभद्रा के प्रसव की पीड़ा को कम करने के लिए अपने हाथ चक्रव्यूह का चित्र बनाकर उसे दिखाया था। वह चित्र बराबर उनके शयन कक्ष में या शिविर में जहाँ कहीं वे सोयीं बराबर लगा रहता था। अभिमन्यु भी नित्य चक्रव्यूह का चित्र देखकर पलंग से उठता था। चक्रव्यूह रचना के दो दिन पहले रात को अर्जुन ने इसी चित्र के आधार पर अभिमन्यु को व्यूह भेदन की कला का ज्ञान दिया। इस प्रकार एक छोटे से मोड़ द्वारा मिश्रजी ने पौराणिक प्रसंग को प्रभावपूर्ण एवं विश्वसनीय बनाया।

"महाभारत" से भिन्न दिखाई पड़नेवाला दूसरा प्रसंग है अभिमन्यु का खुद चक्रव्यूह भेदन के लिए जाना। "महाभारत" में युधिष्ठिर अभिमन्यु को बुलाकर युद्ध में जाने को कहते हैं।[3] वहाँ पहले अभिमन्यु इसका इन्कार करता है, लेकिन बाद में वह तैयार हो जाता है।[4] लेकिन मिश्रजी इस प्रसंग को ज्यों ही त्यों प्रस्तुत करके वीर पुरुष अभिमन्यु के साहसी चरित्र पर धब्बा लगाना नहीं चाहता। उनके अभिमन्यु ने युधिष्ठिर केपास जाकर युद्ध में जाने की अपनी इच्छा प्रकट की। समूचे नाटक में युद्ध का जो वर्णन किया गया है उसका आधार "महा-

---

1. चक्रव्यूह - पृ:133
2. वही - पृ:8
3. महाभारत - द्रोणपर्व - अध्याय 35, श्लोक - 14-17
4. वही - अध्याय 35, श्लोक-19-21

भारत" के होते हुए भी युद्ध वर्णन के क्रम में मिश्रजी ने अपनी कल्पना के सहारे कुछ भिन्नताएँ प्रस्तुत करके चित्रण को मार्मिक बनाया है। इस वर्णन से नीरसता की अपेक्षा रोचकता आ गयी है। नाटककार की कल्पना वहाँ भी निखर उठी जहाँ युद्ध के मूल उत्स को ढूँढ निकाला है। यह मूल कारण है द्रौपदी का हठ। नाटककार की यह मान्यता युधिष्ठिर के शब्दों में गूँज उठी - इस सारे संहार के मूल में एक नारी का अभिमान है।[1] नाटककार की स्पष्ट धारणा यही है कि भोग लालसा में डूबकर यदि पुरुष नारी के इशारे पर नाचते रहेगा, उसपर अपना अंकुश रखने में असफल होगा तो वहाँ सर्वनाश ही होगा। नाटककार की यह धारणा युधिष्ठिर के पश्चाताप भरे शब्दों में मुखरित है - हम पाँच पुरुष तुम्हारी बहन को अंकुश में न रख सके, उसके अंकुश के नीचे हमारे सिर सदैव झुके रहे उसीका फल यह युद्ध है। भीमसेन की गदा और अर्जुन का गाण्डीव .....[2]

"महाभारत" से भिन्न दिखाई पड़नेवाला और एक प्रसंग है, दुर्योधन के दुष्ट चरित्र में कुछ मानवीयता लाने का नाटककार का प्रयास। "महा-भारत" में दुर्योधन का चरित्र अपनी तामसी वृत्ति के लिए अत्यंत प्रसिद्ध है। लेकिन मिश्रजी का दुर्योधन उतना अन्यायी व्यक्ति नहीं दीख पड़ता, उनमें भी इनसानियत के कुछ कण शेष थे। यही कारण है कि युद्ध क्षेत्र में जयद्रथ गदा लेकर अभिमन्यु को मारने के लिए दौड़ पड़े तो दुर्योधन अभिमन्यु की रक्षा के लिए दौड़ पड़े, किंतु वह बचा न सका। अपने पुत्र लक्ष्मण का निधन भूलकर अभिमन्यु का शीश अपनी गोद में लेकर फूट-फूटकर रोया। दुर्योधन के प्रति नाटककार के नये दृष्टिकोण के कारण दुर्योधन का परंपरागत चरित्र नये प्रकाश में व्यक्त हो सका है।

संपूर्ण नाटक में वीर अभिमन्यु का जो वीरतापूर्ण चरित्र उभर आया है उसने पाठकों पर अमिट छाप छोड़ी। कच्ची उम्र में अदम्य उत्साह दिखाकर अपने देश के लिए अमर बलिदान करनेवाले अभिमन्यु का चरित्र उदात्त देश प्रेम की अनूठी मिसाल है। यहाँ मिश्रजी ने अभिमन्यु के वीरतापूर्ण चरित्र को "महाभारत" से एक पग आगे बढ़कर चित्रित किया है।

---

1. चक्रव्यूह - पृ:138
2. वही - पृ:99

एक निडर व्यक्तित्व की पस्ती में झलकनेवाली अजेयता -

"अपराजित"

जब इतिहास या पुराण का उपयोग नाटककार अपनी वैयक्तिक अभिरुचि के अनुसार करता है तो कल्पना और अनुभूति की प्रधानता अवश्य आती है। नये भाव बोध और बदली हुई संवेदना के स्तर ने स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों की चेतना में बड़ी तेज़ी से परिवर्तन उपस्थित किया। परिणामतः उन्होंने परंपरागत दृष्टिकोण का खंडन करते हुए अपने साहस का परिचय दिया। इन रचनाकारों के-लिए कोई भी प्राचीन पात्र, चाहे पुराण का हो, या रामायण का, या महाभारत का सर्वगुण संपन्न नहीं। हर एक पात्र की अपनी दुर्बलता है। स्वतंत्रता पूर्व रचे नाटकों में पुराण पात्रों को अमानुषिक या अलौकिक स्तर पर बिठाने का प्रयास ही हुआ है। इस काल के नाटककारों ने पुराण के पात्रों में जहाँ कहीं कमज़ोरी महसूस की उनकी ओर आँखें मूँद ली। उसको इसलिए अनदेखा किया कि लोगों के मन में इन अवतारी पुरुषों के प्रति भक्ति की जो भावना है उसमें कहीं ठेस न पहुँचे। लेकिन नये नाटककार अपने तटस्थ दृष्टिकोण लेकर प्राचीन पात्रों को कसते हुए उनकी दुर्बलता और महानता दोनों का चित्रण करते हैं। नवीन नाट्य दृष्टि के अनुकूल पौराणिक कथाओं और सूत्रों का सहारा जिन नाटककारों ने किया है उनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र का स्थान प्रमुख है।

"अपराजित" में मिश्रजी ने "महाभारत" के अछूते रहस्यों का उद्घाटन करने का प्रयास किया है। कथानक के सूत्रों को खोजने की प्रेरणा मिश्रजी को कैसे मिली, इसकी व्याख्या नाटक की भूमिका में उन्होंने विस्तार से दी है। "केन्द्रीय शिक्षा सचिवालय की ओर से देश के पश्चिमी अंचल की भाषण यात्रा के दौरान भावनगर में सरस्वती की मूर्त कृपा उन्हें प्राप्त हुई जहाँ नाटक के लिखने का संकल्प उनके मन में उठा। समुद्र तट पर एक पहर घूमते वक्त वहीं से दक्षिण पूर्व समुद्र के भीतर काले पत्थर के खम्भे जैसा शिवलिंग उन्हें दिखाया गया और कहा गया कि समुद्र से अपने आप यह शिवलिंग महाभारत युद्ध के बाद प्रकट हुआ, इसने इस बात की घोषणा की कि पांडव अकलंक हैं, अकलंक हैं, अकलंक हैं। तभी से इस शिवलिंग का नाम

ही "अकलंकेश्वर" या वहाँ की भाषा में "नकलंकेश्वर" है। "अकलंकेश्वर" के विग्रह की ओर मैं देख रहा था और जैसे उसी दर्शन में यह भी दिखाई पड़ गया कि महाभारत युद्ध में पांडव कलंकी माने गये, नहीं तो पांडवों को कलंकहीन कहने का श्रेय "अकलंकेश्वर" को न उठाना पड़ता।"[1] जब मिश्रजी के मन में विग्रह दर्शन के बाद चिंता की वह पहली रेखा खींची गयी कि महाभारत युद्ध में पांडव भी दोषी माने गये थे,तो इसकी प्रामाणिकता के लिए उन्होंने "महाभारत" की घटनाओं को परखा और उनका चिंतनशील मन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पांडव भी निर्दोषी नहीं थे, अवतारी पुरुष कृष्ण की ओर से भी अवश्य अमर्यादित आचरण हुए हैं। यहाँ तक कि उन्होंने कृष्ण को ऐसा कालपुरुष माना है जो युद्ध का मूलकारण था।[2]

महाभारत युद्ध के तेरहवीं दिन की घटना से लेकर नाटक शुरु हुआ है। कृपाचार्य नित्य की भांति भस्म तथा प्रासाद लेकर शिविर में आये हैं। परंतु द्रोण का पता नहीं है। अपने सेवक गन्धमादन से उसे ज्ञात हुआ कि कृष्ण तथा युधिष्ठिर आचार्य को शिविर से अपने साथ ले गये। कृपाचार्य तथा बहन कृपि भी भयभीत हैं कि कहीं वे लोग मृत्यु का रहस्य पूछ लें। कृपाचार्य को बहुत दुःख है कि कृष्ण ने पितामह भीष्म के साथ बड़ा अन्याय ही किया है। देवेन्द्र ने प्राण की रक्षा में भी नारी की ओर से मुँह फेरकर शस्त्र छोड़ देने की बात कृष्ण से कह दी और खुद उनको बाणों की सेज में लेटना पड़ा है। सुयोधन को भी कृष्ण की कृतघ्नता पर दुःख है। कृष्ण के अमर्यादित आचरण के प्रति वह भी प्रश्न कर रहा है - "कहाँ था उसका धर्म जब सभा में शस्त्रहीन शिशुपाल का सिर चक्र से कट गया। पितामह न होते तो रक्त की धार में यज्ञ की अग्नि बुझ गयी होती। उनकी उपकार का बदला उन्हें नारी वेशधारी क्लीव को महारथी के रथ पर आगे बैठा कर दिया गया। धनुष रखकर जब मारे घृणा के उनका सिर दूसरी ओर घूम गया, महारथी के बाण उनकी पीठ पर लगे, तब कहाँ था उसका धर्म?"[3] शत्रु से मृत्यु की युक्ति जानने का कृष्ण का जो उपाय है वह नाटककार को न्यायसंगत नहीं लगा।

---

1. लक्ष्मीनारायण मिश्र "अपराजित" - परंपरा का आग्रह - पृः ख
2. वही - पृः3
3. वही - पृः55

कृपाचार्य और कृपि का भय सत्य ही सिद्ध हुआ। द्रोणाचार्य के लौट आने पर उन्हें पता चला जैसे वसुदेव का सम्मोहन देवव्रत पर चला ठीक उसी प्रकार द्रोणाचार्य पर भी। द्रोणाचार्य से भी कृष्ण ने पूछा था कि क्या जब तक उनके पुत्र जीवित रहेंगे तब तक वे आपराजित और अमर रहेंगे।[1] अनायास ही द्रोण के मुँह से "हाँ" निकल गया। तुरंत ही कृष्ण ने बताया - "आपके ललाट में पुत्रशोक का भोग लिखा है।"[2] यह वचन सुनकर द्रोणाचार्य के रोये-रोये में काल सर्प का विष व्याप्त हो गया। अपनी संतान के प्रति एक पितृ हृदय में भरी ममता का बहुत मार्मिक वर्णन नाटककार ने किया है। कृष्ण ने उस द्रोणाचार्य के प्रति इतना बड़ा छल किया जो कृष्ण को अपना सबकुछ मानते हैं। जब अश्वत्थामा और कृपाचार्य पितामह देवव्रत के प्रति किये अन्याय के लिए कृष्ण और युधिष्ठिर को दोषी मानते हैं तो द्रोणाचार्य ने उन्हें रोका - "वसुदेव और धर्मराज को व्यर्थ दोष न दो पुत्र! काल भगवान के संकेत पर यह सृष्टि का चक्र चल रहा है। रथ के चक्र जैसा हम सबका भाग्य चक्र कभी नीचे और कभी ऊपर है।"[3] द्रोणाचार्य को तनिक भी यकीन नहीं था कि वसुदेव और युधिष्ठिर उनके साथ छल करेंगे। जब कृष्ण ने उनसे प्रश्न किया, उन्हें ऐसा लगा कि उन शब्दों में, उस दृष्टि में, उस भावमयी मुद्रा और स्पर्श में जो सम्मोहन था वह चराचर पर छा गया था। उसे ऐसा भी लगा - "मेरी आँखों में बैठकर जो पुरुष देखता है, जो पुरुष कान में सुनता है, जो पुरुष मेरी वाणी में बोलता है, रसना में स्वाद लेता है, नाक में गंध और त्वचा में स्पर्श है, उसी पुरुष ने वह प्रश्न किया।[4]

"महाभारत" के अनुसार युद्ध प्रारंभ होने से पहले जब युधिष्ठिर द्रोणाचार्य के पास आशीर्वाद के लिए आये तो उन्होनं स्वयं अपनी मृत्यु के बारे में कृष्ण से कह दिये हैं[5] जैसे देवव्रत ने स्वयं अपनी मृत्यु के बारे में युधिष्ठिर से कह दिया था। उससे द्रोण का पांडव-प्रेम व्यक्त हुआ है। परंतु मिश्रजी ने इसे कृष्ण

---

1. अपराजित - पृ:32
2. वही - पृ:33
3. वही - पृ:30
4. वही - पृ:32
5. "महाभारत", द्रोणपर्व - अध्याय-12, श्लोक-21,22

तथा युधिष्ठिर की कूटनीति मानते हुए उनके चरित्र की कमज़ोरी के रूप में दिखाया है। जहाँ मिश्रजी ने कृष्ण और युधिष्ठिर के कमज़ोर पक्ष का पर्दाफाश किया था वहाँ उन्हें अवश्य भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के चरित्र की वह दुर्बलता - कौरव पक्ष में रहते हुए भी मन-ही-मन पांडवों की विजय की इच्छा करना - की ओर भी संकेत करना था। लेकिन द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह को कहीं दोषी नही मानते। अतः हम नहीं कह सकते हैं कि पूर्ण रूप से तटस्थ दृष्टिकोण लेकर मिश्रजी ने महाभारत की घटनाओं का विश्लेषण किया है। नाटक के दूसरे अंक में युद्ध के भयानक दृश्य का वर्णन करते समय नाटककार ने यह दिखाया है कि गुरु द्रोण ने युद्ध क्षेत्र में युधिष्ठिर का जीवन दान दे दिया। गुरु द्रोण के धनुष से जो आँधी चली उसमें शत्रु सेना उड़ गयी, अपने प्राण की चिंता में सब भाग निकले। आचार्य के धनुष से वायु की जैसी भँवर बन गयी थी और उस भवण्डर में युधिष्ठिर का रथ नाचने लगा, गुरु द्रोण का धनुष उनके कंठ में वरुण के पाश जैसा पड़ गया। ओठ के बाहर युधिष्ठिर की जीभ खिलने लगी तो द्रोणाचार्य ने धनुष निकालकर स्वयं कहा - "जाओ भद्र अब शिविर में विश्राम करो।[1] यदि गुरु द्रोण चाहते तो युधिष्ठिर को रथ से खींचकर नीचे गिरा देते और दोनों हाथ और कंठ धनुष की डोरी से बाँध देते। पांडवों के प्रति गुरु द्रोण के मन में कितनी ममता थी यह इस घटना से स्पष्ट हो गयी है। युधिष्ठिर कृष्ण की प्रेरणा से अर्ध सत्य बोलकर अपने गुरु की हत्या करवाने में नहीं हिचके। वे भूल गये कि अपने गुरु की दया से वह युद्ध क्षेत्र में बच निकले। कृष्ण ने भीम को उसी कूट नीति बतायी कि मालव नरेश इन्द्रवर्म के हाथी अश्वत्थामा को गदे से मार डालकर आचार्य द्रोण के रथ के आगे रक्त से डूबी गदा ऊपर उठाकर नाचना है और कहना है कि अश्वत्थामा को मार डाला। कृष्ण ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया कि आपने यह कह देना - अश्वत्थामा हत हुई आचार्य। फिर धीरे से इतने धीरे से कि कोई दूसरा न सुने - कहना नहीं कुंजर। यह इतना "नर नहीं कुंजर" ऐसा कहना कि वसुदेव भी न सुनें।"[2] कृष्ण के ये वचन सुनकर जब युधिष्ठिर एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गया तब कृष्ण ने उन्हें समझाया - "देह धारण करने पर यह सब कहना ही पडता है। तिल भर पाप से जो हिमालय सा पुण्य मिले उसे करना ही है। बिना दोष के इस सृष्टि

---

1. अपराजित - पृ:51
2. वही - पृ:72

में कुछ नहीं है, बिना धूम के अग्नि का आरंभ नहीं है, समझ रहे हो।" भीम को जब आचार्य के रथ के आगे नाचते देखो अपना रथ वहीं चला दो।[1] भीम और युधिष्ठिर ने कृष्ण के निर्देशानुसार सबकुछ किया। गुरु द्रोण ने धर्मराज से अपने पुत्र अश्वत्थामा के निधन की बात सुनी, उनसे न रहा गया। उन्होंने जल्दी ही धनुष छोड़कर योगासन में प्राण छोड़ दिया। द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न ने उसका सिर काट दिया।

गुरु के प्रति किये गये जघन्य पाप पर युधिष्ठिर को गहरा पश्चाताप हुआ। उनका मन बोल उठा - "हाय मुझे यह दृश्य भी देख न पड़ा। धिक्कार है इस युद्ध को, धिक्कार है इस सेना को और इस व्याध को देखा है जो हमारा सेनापति है।[2]

नाटक में अश्वत्थामा के विवाह की घटना नाटककार की कल्पना पर आधारित है। गांधारी के इच्छानुसार ही उसके भाई के पुरोहित-पुत्री माधवी के साथ अश्वत्थामा का विवाह संपन्न हुआ। कृपि ने अश्वत्थामा को जन्म दिया था लेकिन गांधारी ने ही उसका पालन-पोषण किया था। जन्म के एक वर्ष के भीतर जब द्रोणाचार्य और कृपि राजदर्बार में आ गये तो अश्वत्थामा गांधारी की आँखों की पट्टी से चौंक कर भागने लगा तभी गांधारी के मुँह से निकला - जब तुम्हारी दुल्हिन आयगी तुम दोनों को विवह मंडप में देखने को एक बार यह अवरोध हटेगा।"[3] इस घटना के बीस वर्ष के बाद भी गाँधारी की कामना अश्वत्थामा के विवाह से पूरी हो गयी। अश्वत्थामा के गले पर जब माधवी ने वर-माला डाली तो पहली बार अपनी आँखों का अवरोध हटाकर उसे निहारी। कृपाचार्य और कृपि इस शादी से बहुत खुश हुए। क्योंकि वे इस चिंता में घुले जा रहे थे कि तीस बरस बीत जाने पर भी अश्वत्थामा की शादी नहीं हुई थी, कृपाचार्य गांधारी के प्रति बहुत एहसानमंद है। इसे उसने प्रकट भी किया - "आपका यह दान धरती के दान से बड़ा होगा। अब उनके पितर स्वर्ग से नीचे न आयेंगे जिसका कुल नहीं चलता

---

1. अपराजित - पृ:72
2. वही - पृ:80
3. वही - पृ:20

उसके पितर स्वर्ग से गिरते हैं।[1] बाद में जब द्रोणाचार्य को इस शादी का पता मिला तो वे भी खुशी से खिल उठे - "मैं ही नहीं पितर इस दर्शन से कृतार्थ होंगे। उनके परलोक की रक्षा आपसे हो गयी देवी। मुझे आशा नहीं थी कि मेरे शस्त्र-धारी पुत्र को कोई कन्या देगा।"[2]

मिश्रजी ने गाँधारी के चरित्र को आदर्श के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। उसकी ममतामयी माँ का रूप ही इधर उभर आया है। उसके मन में हमेशा यह चिंता उभर आयी कि गुरु पुत्र अधूरे न रहे। उसकी ममता इतनी गहरी थी कि कुरुक्षेत्र युद्ध की समाप्ति के पहले ही उसने अश्वत्थामा और माधवी का विवाह संपन्न कराना चाहा। इसलिए युद्ध के तेरहवीं दिन माधवी को लेकर द्रोणाचार्य के शिविर में आयी। कृपाचार्य के यह समझाने पर भी - युद्ध-स्थान विवाह करने के योग्य नहीं, गाँधारी मानने को तैयार नहीं थी। क्योंकि "उसको कल के प्रति काई आशा नहीं थी।"[3] उसका मन शंकालू है - कौन जाने कल का दिन और बुरा हो आज ही गुरुपत्नी, इसी रात को कल का विश्वास कौन करे।[4] अपनी कामना वन में, समुद्र में जितनी अग्नि है सब इस समय मेरे प्राण में समा गयी है धू धूकर जल रही, जो उसे आप जानती। उसमें यह कन्या न जल जाय उसे लेकर यहाँ भाग गयी।[5] गाँधारी का चरित्र इसलिए गरिमा पाता है कि दुःख की ज्वाला से बुरी तरह झुलसते वक्त भी वह दूसरों को शीतलता देना चाहती है, दूसरों का कल्याण चाहती है। उनके पुत्र एक-एक होर काल के मुँह में बारह दिन से जाते रहे हैं, उनकी एकमात्र पुत्री, पति की चिता की लपटों में समा गयी ये लपटें ऊपर उठकर आकाश में लीन भी नहीं हो गयी थी कि इस दुःखिनी माता ने दूसरी माता को सुख प्रदान किया। जहाँ नाटककार ने गाँधारी को मातृ मूर्ति की वन्दना की है, वहाँ उसके पातिव्रत्य का यशोगान करने को भी वे नहीं भूले। गांधारी के संबंध में कृपाचार्य कितनी सही बात कह रहा है - आपकी आँखों के इस आवरण को

---

1. अपराजित - पृ:25
2. वही - पृ:42
3. वही - पृ:33
4. वही - पृ:20
5. वही - पृ:27

स्मरण कर इस देश की देवियाँ बिना किसी बाधा के भव सागर पर पार करती रहेंगी। महा माया, पार्वती और लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री का अंश आपके भीतर हैं। अपने इस कर्म से आपने लोक में पतिव्रत का निर्वाह सरल कर दिया।[1]

नाटक की तीसरी प्रमुख घटना अश्वत्थामा और पांडु-पुत्रों के बीच का घमासान युद्ध है। अश्वत्थामा अपने पिता के सिर को पत्नी के गले में बाँध लिया और पांडवों के विनाश की प्रतिज्ञा की। युधिष्ठिर के अधर्म की कटु आलोचना करते हुए युद्ध के लिए अग्रसर हुए। उसका मन प्रतिशोध से तिलमिला उठा। जिस जीभ से अपनी मृत्यु के शब्द निकालकर भीमसेन अपने तात की धोखापूर्ण हत्या करने में सफल हुए उस जीभ को उखाड़ने के लिए अश्वत्थामा का जी तरस रहा था। जब भीमसेन गदा लेकर यमराज सा अश्वत्थामा की ओर दौड़ा तो उसने अंजलिक बाणों की जाल बुन दी जिसे देखकर भीम विस्मय में डूब गया। एक-एक होकर भीमसेन का सारथी गिरा, घोडे गिरे, ध्वजा कट गयी, भीम गुरु पुत्र के आगे पूर्ण रूप से पराजित हुआ। अश्वत्थामा के प्रस्तापन बाण के प्रभाव में आकर भीमसेन धरती पर गतिहीन होकर पड़ा। यदि अश्वत्थामा चाहते तो अवश्य अपने पिता के हत्यारे का प्राण ले सकते थे, लेकिन उसे याद आयी कि उसके तात ने भीमसेन और उसके भाइयों को बार-बार प्राणदान दिया है। अतः अश्वत्थामा ने भीमसेन से कहा - "उनके शीश के सेनापतित्व में मैं तुझे छोड रहा हूँ।"[2] बाद में अर्जुन और अश्वत्थामा के बीच भीषण युद्ध हुआ। गुरु पुत्र रुद्र का तेज शरीर पर धर कर रथ पर बैठा था। देखते देखो अर्जुन की ज्या कट गयी। अश्वत्थामा के बाण उसके रथ को बाँध रहे थे। इसी समय पांडव कुमार मलय ध्वज अर्जुन को रथ में बाँधकर रुद्र के वेग में निकल गया। उसने गुरु पुत्र की ज्या काटकर किरीट भी काट दिया। अर्जुन से और भीम से जो संभव नहीं था वही उसने कर दिखाया। पांडव कुमार की शक्ति इतनी बढ़ गयी तो अश्वत्थामा के धनुष से दसवीं गति का बाण धूमकेतु-सा चला जो उस बालक का शीश लेकर उड़ गया। इस बालक की मृत्यु पर अश्वत्थामा को बहुत दुःख हुआ।

---

1. अपराजित - पृ:24
2. वही - पृ:90

अश्वत्थामा की रणकुशलता की बराबरी अर्जुन भी न कर सका। गुरु पुत्र का रथ शत्रु-सेना को मथ रहा था और "रथ की मण्डराकार गति से शत्रु आँधी के वेग में रूई जैसे उड़े जा रहे थे।"[1] प्रबल शत्रु अर्जुन ने भी कृष्ण के सामने गुरु पुत्र की अपराजेयता को माना - "उसके रूप में भवानीपति शंकर समर कर रहे हैं। उसके ललाट की मणि शंकर का तीसरा नेत्र है जिसकी ज्योति में आँखें नहीं खुलतीं महामाया स्वयं उसका रथ चला रही हैं। न न न उसकी ओर देख न सकूँगा मैं मेरी आँखें मूँद जायेंगी। भुजाएँ फिर शिथिल होंगी, जनुष टूट जायेगा।"[2] अर्जुन के मन में अपने आचार्य की हत्या को लेकर अपराध-बोध भी है। उस दृश्य को वह भूल नहीं सका कि अधम पाँचाल धृष्टद्युम्न ने आचार्य का शीश तीन बार घुमाकर फेंक दिया। अश्वत्थामा तनिक चूका होते तो वह शीश धरती की धूल में गिर पड़ता। अपराध बोध से बुरी तरह घायल उसके मन ने चाहा - "यह दिन इस पक्ष की काल रात्री बन जाय, गुरु पुत्र हम सब का यमराज बन जाय पर मैं यहाँ से हिलूँगा नहीं।"[3] युद्ध से विरत अर्जुन के मन में लड़ने की कामना कृष्ण ने ही पैदा की है। कृष्ण ने देखा कि धृष्टद्युम्न के संकट की वेला में उसका सहायक कोई नहीं। पाँचाल कुमार का सारथी, घोड़े, ध्वजा सब कट गयी, धनुष भी कट गया। अश्वत्थामा अपने रथ से कूदकर धृष्टद्युम्न के सिर का केश पकड़े, उसपर तलवार चलानेवाला था कि पीछे से बाण तलवार की मूठ पर लगा। कृष्ण और अर्जुन ने मिलकर पीछे से बाण मारा। यहाँ भी नाटककार ने कृष्ण की कूटनीति पर ही व्यंग्य किया है। यह व्यंग्य अश्वत्थामा के शब्दों में मुखरित है - "पीछे से बाण मारा व्याध! जगत का एकमात्र धनुर्धर कृष्ण की नीति से व्याध बन गया। गाँडीव की मर्यादा का क्या रही वधिक राज, पीछे से बाण मारकर व्याध के कर्म करनेवाला?"[4] इस प्रकार कृष्ण की कूटनीति के कारण अश्वत्थामा के हाथ से धृष्टद्युम्न बच गया। क्रुद्ध होकर अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र चलाया, जिसके आते ही कृष्ण ने सबको शस्त्र छोड़कर धरती पर पड़ जाने का आदेश दिया। कृष्ण को भी अश्वत्थामा की अपराजेयता की दाद देनी पड़ी - "यह विजय अपराजित गुरु पुत्र अश्वत्थामा की है जिसके शस्त्र को अर्जुन

---

1. अपराजित - पृ:65
2. वही - पृ:97
3. वही - पृ:98
4. वही -पृ:100

भी न रोक सका।"[1] कृष्ण के शरण नारायणास्त्र विफल हो गया। अंत में वह युद्ध भूमि से भाग गया। "महाभारत" में उस दिव्यास्त्र के आगे भक्तिवश कृष्ण और पांडव भाई विनम्र खडे दिखाई पड़ते हैं।[2] लेकिन नाटककार ने यहाँ अश्वत्थामा की अजेयता दिखाने के लिए पांडवों को नारायणास्त्र के सम्मुख झुकाया है। शत्रु के सामने शस्त्र छोड़कर सिर झुकाना पराजय की सम्मति है।

तीसरे अंक में अश्वत्थामा वन प्रान्त में दिखाई पड़ा। उसने कुरुराज के कहे अनुसार मनुष्य वाणी के संपर्क से बच रहना चाहा। युद्ध क्षेत्र में कृष्ण और पांडव भाइयों के छलपूर्ण व्यवहार और अपने पिता की नृशंसता पूर्ण हत्या ने अश्वत्थामा को इतना अधिक कुण्ठाग्रस्त और विवश कर दिया कि मनुष्य पर उसका सारा विश्वास नष्ट हो गया - "दो हाथ, दो पैर, ज्ञान और विद्यावाले जिस पशु को मनुष्य कहते हैं उसके संपर्क से भागकर मुझे अब सर्प और सिंह के साथ रहना है जो छल नहीं जानते, मिथ्या नहीं मानते। धर्म और अधर्म और श्रुति एवं स्मृति नहीं जानते। मनुष्य की वाणी इन कानों में न पड़े। मनुष्य के दर्शन से मेरी आँखें जल जायेंगी।"[3] लेकिन आधी रात में पाँचाल शिविर में पहुँचकर वहाँ सोये पड़े सभी सैनिकों की हत्या कर ली जिसका वर्णन उसने स्वयं कृपाचार्य से कहा - "अठारह दिन के युद्ध में पाँचाल सेना का जितना संहार नहीं हुआ था उतना संहार मेरे हाथ रात एक पहर में आधी रात तक हो गया।"[4] कृष्ण के कहे अनुसार द्रौपदी को लेकर पांडव शिविर से न चले तो एक भी न जीवित छोड़ते। इसी बीच अश्वत्थामा की खोज में कृष्ण और पांडव भाई निकल पड़े। इसके पहले ही पांचाली ने ऐसी प्रतिज्ञा ली थी कि जब तक भीमसेन गुरु पुत्र को बाँधकर बन्दी वेष में नहीं ले जायेंगे तब तक वह अन्न, जल को आँखों से न देखेगी। गुरु पुत्र के कण्ठ का उपहार चाहनेवाली द्रौपदी ने दुर्योधन की पत्नी भानुमति के प्रति भी यह कटुतापूर्ण निमंत्रण देकर अपनी हठ और अहंयुक्त व्यवहार का और एक बार परिचय दिया है। निमंत्रण तो यही था कि "भानुमति अपने पति की प्राणहीन काया को गीध और सियार के उत्सव के-लिए छोड़कर अपना श्रृंगार करके अपनी सपत्नी का पथ ग्रहण करे।"[5] युधिष्ठिर ने

---

1. अपराजित - पृ:102
2. "महाभारत" - द्रोण पर्व, अध्याय-200, श्लोक-18-19
3. अपराजित - पृ:106
4. वही - पृ:107
5. वही - पृ:117

यह घोषणा दी कि नींद में सोये पाँचाल कुमार का, उनके वीर भाइयों का, उनकी सारी सेना का वध करनेवाले पापात्मा अश्वत्थामा की सूचना देनेवाला सात पीढ़ियों तक धन-धान्य से भरा रहेगा, धर्मराज उसे सौ गाँव, सौ भार सेना, सौ हाथी और एक लक्ष गायें देंगे। नाटककार ने यहाँ भी स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि असत्य को सत्य बनाने की कला में पाण्डव पक्ष और कृष्ण सबके आगे थे।

बिना विलंब के शत्रुसेना वन में पहुँचे और अश्वत्थामा को युद्ध के लिए ललकारा। उन ललकारों को स्वीकार करते हुए अश्वत्थामा ने अपने धनुष से बाण छोड़ने के पहले कृष्ण और पांडव भाइयों पर उनकी असत्य, कपट, छलपूर्ण करतूतों पर व्यंग्य बाण छोड़ा। कर्ण की धोखापूर्ण हत्या करनेवाले अर्जुन को उसने धिक्कारा, जटा युद्ध में अधर्म से कटि के नीचे जाँघ पर गदा मारकर दुर्योधन के हत्यारे बने भीम-सेन - जो कुरुराज के शिविर में सैनिकों के साथ बैठकर वहाँ की स्त्रियों को त्रस्त करता रहा, उसके वस्त्र आभूषण लूटता रहा - को कोस दिया। अश्वत्थामा ने निडर होकर उनसे खुल्लम बताया - "तात का वध झूठ बोलकर तुम लोगों ने जब करा दिया, उसी संध्या को तुम लोग पराजित हुए थे। इस श्मशान पर तुम राज्य करो, धरती पर धनुष डालकर जब तुम सब एक ही साथ साष्टांग पड़ें थे उसी समय इस समर का अन्त था। तुम पराजित थे। धर्म और नीति से तुम पराजित थे किरीटी। शस्त्र छोड़कर औंधे मुख धरती पर गिर जाना पराजय नहीं है।"[1] अश्वत्थामा ने कृष्ण और पांडवों को यह समझाया कि कुरु राज्य पर पांडवों का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि पांडव पांडु के औरस पुत्र है, कोई धर्म का, कोई वायु का, कोई इन्द्र का और कोई अश्विनी कुमारों का है। अंत में अर्जुन और अश्वत्थामा दोनों ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। अर्जुन का संकल्प अश्वत्थामा के ललाट की मणि है तो अश्वत्थामा का संकल्प मात्र पांडुवंश का संहार है। ब्रह्मास्त्र जैसे घातक अस्त्रों का प्रयोग होने पर कितना बड़ा भीषण और प्रलयंकरी दृश्य मचलता है - "दोनों शस्त्र टकराकर अग्नि की वर्षा कर रहे हैं। वृक्षों से पक्षी उड़े जा रहे हैं। दो दंड में दिशाएँ अग्नि की ज्वाला से भर जायेंगी, शत्रु-मित्र, चर-अचर सब एक साथ भस्म होंगे। फिर संवर्तक मेघ बरसेंगे और सृष्टि का अंत है यह।"[2] ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के साथ सृष्टि के अंत

---

1. अपराजित - पृ:135
2. वही - पृ:140-141

की सूचना मिलते ही व्यास, नारद के साथ प्रकट हुए और उन्होंने दोनों पक्षों से ब्रह्मास्त्र के समाहार करने की आज्ञा दी। व्यास के आदेश के आगे अश्वत्थामा नतमस्त हो गया। उत्तरा के गर्भ में पांडु वंश का जो बीज था उसकी रक्षा करते हुए पांडवों को अभयदान देने की व्यास की आज्ञा भी उसने स्वीकार की। अपनी ललाट मणि का हरण होने में भी उसे दुःख नहीं। अश्वत्थामा के चरित्र की सदाशयता से प्रभावित होकर व्यास ने उसको आशीर्वाद दिया – तुम से अधिक मूल्य उस मणि का नहीं था कल्याणी। जितने जन यहाँ, इस समय उपस्थित हैं, सबका शरीरपात होगा, इनमें केवल तीन योग मंडल में निवास कर भावी मनु के मार्ग दर्शक बनने के लिए मृत्यु से भी अपराजित रहेंगे।[1] गुरु पुत्र को कृष्ण ने भी अपराजित स्वीकार किया और इसके साथ नाटक का अंत हुआ।

नाटककार अपनी अभिप्रेत भावों की अभिव्यक्ति के लिए कुछ काल्पनिक पात्रों को गढ़ सकते हैं और कुछ नवीन वृत्तों को जोड़ भी सकते हैं। लेकिन पूर्ण रूप से पौराणिक घटनाओं से भिन्न गढ़नेवाली कल्पना अनुचित है। अश्वत्थामा और माधवी के विवाह संबंधी जो घटना नाटक में है उसके लिए "महाभारत" में कहीं भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। युद्ध क्षेत्र में माधवी को अश्वत्थामा के सारथी के रूप में वीरता के साथ लड़ते हुए भी दिखाया गया है। मिश्रजी के ही नाटक "चक्रव्यूह" में चक्रव्यूह भेदन के लिए अभिमन्यु के युद्ध क्षेत्र की ओर निकलते वक्त उसकी पत्नी उत्तरा ने आगे को उसके साथ युद्ध क्षेत्र में ले जाने का अनुरोध किया लेकिन अभिमन्यु ने उसका विरोध किया।[2] इससे स्पष्ट है कि महाभारत काल में नारी युद्ध क्षेत्र नहीं जाती थी। यहाँ नाटककार की कल्पना बिलकुल निराधार है। एक ही नाटककार की भिन्न रचनाओं में इस प्रकार की दो परस्पर विरोधी घटनाओं का वर्णन करना बिलकुल उचित नहीं लगता।

****

---

1. "अपराजित" – पृ:144
2. वही – पृ:33

अभिशप्त वर्ण व्यवस्था का शिकार -

"कर्ण"

वर्ण व्यवस्था से उपजा वर्ग विभाजन भारतीय समाज का सबसे बड़ा अभिशाप है। कितनी आत्माओं को इस वर्ण व्यवस्था के गरल का पान अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में करना पड़ता है। अपनी निम्न वंशीयता के कारण बीसवीं शताब्दी के इस अंतिम चरण में भी कितनों को दूसरों से सिर्फ घृणा और तिरस्कार ही मिलते हैं, जीवन के सुअवसरों से वे वंचित हो जाते हैं। जब एक विशिष्ट वर्ग - सवर्ण - ही प्रत्येक अवसर पर लाभप्रद स्थिति में रहता है और अवर्ण, मात्र निम्न वंशीयता के दोष से इन अधिकारों से वंचित रहता है तो इन उपेक्षित व्यक्तियों के मन में विद्रोह की भावना उठना स्वाभाविक है। अवश्य उनके मन में समाज की उपेक्षा के कारण एक भयानक कटुता जन्म लेगी। समाज में अवैध संतानों की उपेक्षा भी चिर-काल से होती आ रही है। एक निर्दोष बच्चे को अपनी समूची ज़िन्दगी में सिर्फ सामाजिक अपमान ही नहीं भोगना पड़ता, बल्कि उसे अपने माता-पिता की ममता से भी वंचित रहना पड़ता है। एक जारज पुत्र को कुल, गोत्र, समाज - ये जितनी सामाजिक मर्यादाएँ हैं - वे सब वर्जित हैं। लेकिन सबसे बड़ी अफसोस की बात यह है कि वह मासूम बच्चा, अपने किसी गलती या दोष के कारण दूसरों की घृणा का शिकार नहीं बनता बल्कि अपने माँ-बाप की किसी एक क्षणिक भूल का पाप ही ढो रहा है। भगवतीचरण वर्मा ने ऐसे एक जारज पुत्र को अपने कथानक का आधार बनाया जो सूत-पुत्र कहलाने के कारण समाज द्वारा अपमानित और लांछित था। जारज एवं निम्न वंशी होते हुए भी कर्ण का चरित्र नाटककार के लिए बहुत आकर्षक लगा, जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति उन्होंने नाटक की भूमिका में दी है - "यदि मुझसे प्रश्न किया जाये कि महाभारत के किस चरित्र ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, तो मैं निःसंकोच भाव से उत्तर दूँगा - कर्ण ने।"[1]

---

1. भगवती चरण वर्मा - "मेरे नाटक" - पृः 175

कुरुक्षेत्र भूमि पर पांडव-कौरव युद्ध हो रहा था। वीर योद्धा कर्ण युद्ध के लिए तैयार हो रहा था। कर्ण के मन में द्रौपदी के प्रति प्रतिशोध की जो भावना थी वह भीषण रूप धारण करने लगी। क्योंकि उसके कारण ही यह नरमेध युद्ध हुआ है। द्रौपदी के स्वयंवर सभा में उसे जो अपमान मिला वह कभी नहीं भूल सका।

स्वयंवर सभा में सभी राजा उपस्थित थे। द्रौपदी के स्वयंवर की शर्त सुनकर कि जो लक्ष्यबेध करे उसका द्रौपदी वरण करेगी, कर्ण के मन में द्रौपदी के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न हुई। उसे ज्ञात है कि धनुर्विद्या में विश्व-भर में उसकी समता करनेवाला केवल अर्जुन ही है। लेकिन अर्जुन आज वन में है। वह उत्साही वीर लक्ष्य-बेध के लिए उद्यत हो गया तो द्रौपदी ने उसे सूत पुत्र कहकर अपमानित किया -

कर्ण! रुको, तुम सूत पुत्र क्या कर्ण हो?
मुझको वरने का अधिकार तुम्हें नहीं,
राज सुता मैं कृष्णा हूँ, यह जान लो।
वर्णहीन तुम केवल दर्शक भर रहो।[1]

कर्ण के मन की प्रेम-भावना प्रतिशोध के लिए तड़प उठी। सामाजिक व्यवस्था ऐसी थी कि कर्ण जैसे सूत पुत्र को निम्न कुल में उत्पन्न होने के कारण आदर या सम्मान किसी से भी नहीं मिल रहा था। यह तो स्वाभाविक है कि ऐसे एक पुरुष के गले में स्वयंवर की माला डालना कोई भी नारी नहीं चाहती है। द्रौपदी द्वारा यह अपमान कर्ण के प्रेम पर, उसकी भावना पर एक प्रकार से घातक प्रहार था। निष्प्रभ और अपमानित नत मस्तक वह लौटकर अपने आसन पर बैठ गया। उसने किसी प्रकार के असंयम और विद्रोह का उस समय प्रदर्शन नहीं किया। पर इस अपमान ने कर्ण में ऐसी एक भयानक कटुता भर दी जिसने उसके जीवन स्रोत को भी बदल दिया। कर्ण के मन में जो चोट लगी वह और भी तीव्र बन गयी, जब अर्जुन ही द्रौपदी का पति बन गया। उसकी प्रतिहिंसा की भावना एक साधारण प्रेमी की जैसी है जिसकी प्रेमिका और किसी की पत्नी बन गयी हो। युद्ध क्षेत्र में कर्ण का प्रतिशोधी मन यों गूँज उठा -

---

1. "मेरे नाटक" - पृ:187

द्रौपदी जिसे है गर्व पार्थ के बल का।
वह उतर सकी है कभी न मेरे चित से।
हे शल्य! चुकाना है मुझको ऋण उसका
अर्जुन के ताज़े लोहू की अंजलि से,
उस राज्य वंश की हिंसा की देवी का
अभिषेक मुझे करना है अब नर-बलि से।[1]

समाज के सारे लोगों द्वारा उपेक्षित एक व्यक्ति पर यदि कोई ध्यान दे तो वह उस व्यक्ति से अधिक प्रभावित हो जाता है, उसके लिए अपने को बलि देने के लिए भी तैयार हो जाता है। यही स्थिति कर्ण की भी है। सूत पुत्र होने के कारण वह माता-पिता के प्रेम, ममता से वंचित है। समाज में उसका कोई स्थान नहीं है। उसे सुयोधन ने सेनापतित्व देकर सम्मानित किया है तो कर्ण उसपर अधिक प्रभावित हो गया है तथा अर्जुन-वध के लिए वचन-बद्ध भी। सुयोधन कर्ण की शक्ति से भली भाँति परिचित था और इसलिए स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति जीवन में हमेशा अपमान और तिरस्कार ही पाता है, वह थोड़े से सम्मान और सौहार्द से गल जाता है। उसने कर्ण को सामाजिक मान और आदर भी प्रदान किया।

निरंतर जीवन में लांछना, अवमानना, प्रताड़ना और तिरस्कार से अभिशप्त हुए भी कर्ण कहीं नीचे नहीं गिरा। वह एक अडिग साधक की भाँति अपने धर्म पर रत रहा। जब कुन्ती अपने पुत्रों की प्राण-भिक्षा के लिए कर्ण के समीप आयी तो वह जानकर भी कि कुन्ती उसकी अपनी माता है और पांडव अपने भाई, उसने अपने संरक्षक को सबकुछ माना। उसने अर्जुन को छोड़कर बाकी चार पांडवों को प्राण दे दिया क्योंकि अर्जुन को नष्ट करने में वह दृढ़ संकल्प है -

एक पार्थ - वह पार्थ कि जो है द्रौपदी
की हिंसा का मूर्तिमान् प्रतिबिम्ब-सा।
जिसके कारण यह नरमेध रचा गया,
उसे नष्ट करना ही मेरा धर्म है।[2]

---

1. "मेरे नाटक" - पृ:189
2. वही - पृ:192

वह कुन्ती को अपनी माता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसके मन में माता की पावनता से बढ़कर घृणा की भावना अधिक उभर आयी -

माता! - पावन ममता की संज्ञा परम -
प्रार्थी हूँ तुम व्यंग्य न यों उसका करो,
मैं हूँ एक कलंक मात्र जो त्याज्य है
उसे पुत्र कहकर संबोधित मत करो।[1]

कर्ण के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू यह था कि जिन मान्यताओं को सत्य समझकर वह जीवन में बढ़ा उन मान्यताओं पर वह अन्त तक स्थिर रहा। माता कुन्ती और कर्ण के बीच जो बातचीत चली, वह एक ओर कर्ण की मनोदशा और दृढ़ चित्तता को प्रकट करती है, दूसरी ओर कुन्ती के मातृत्व को आन्दोलित भी करती है जो सामाजिक विधि निषेधों का शिकार बन चुका था। -

लोक लाज से फिर तुमको तजना पड़ा।
लज्जित हूँ मैं कर्ण, तुम्हारे सामने!
पर मैं माता तो हूँ - भ्राता हैं सकल
पांडव जिनके आज बने हो शत्रु तुम!।[2]

कर्ण और अर्जुन के बीच घमासान युद्ध हुआ। अर्जुन के हाथों से थके बाण छोड़ने लगा तो कृष्ण की कूटनीति जाग उठी। उसकी कुबुद्धि ने कर्ण के रथ को ऐसी दिशा में पहुँचाया जहाँ घातक दलदल है, जिससे कर्ण का सारथी शल्य अनभिज्ञ था। रथ का चक्र दलदल में फंस गया। कर्ण में इतना बल था कि वह अपने रथ का चक्र दलदल से निकाल दे। अस्त्र रखकर वह रथ का चक्र दलदल से निकालने को उतर पड़ा। जिस समय रथ को धुरी कंधे पर रखकर वह रथ के चक्र को दलदल से उठा रहा था उसी समय कृष्ण ने कर्ण का वध करने की आज्ञा दी। निरस्त्र कर्ण पर अस्त्र छोड़ने में एक क्षण के लिए अर्जुन हिचका -

---

1. "मेरे नाटक" - पृ:192
2. वही - पृ:192

कैसे मारूँ वह तो निरस्त्र है केशव!
होगा अधर्म यों उसपर बाण चलाना
उसपर जिसने की सदा धर्म की रक्षा
जिसने जाना है हर दम टेक निभाना।[1]

कर्ण के चरित्र की उत्कृष्टता की झलक यहाँ मिली है कि उसके प्रबल शत्रु अर्जुन ने भी उसकी धर्म परायणता को सराह दिया। कृष्ण का उपदेश पाकर अर्जुन ने एक के बाद एक बाण मारकर कर्ण को समाप्त कर दिया। कृष्ण का चित्र यहाँ एक क्रूर शत्रु के समान उभर आया है जो युद्ध की मर्यादा भूलकर केवल विजय के लिए बर्बर युद्ध में रत हो। कृष्ण ने भी कर्ण की महानता स्वीकार कर ली है -

था अति महान वह कर्ण, ज्ञात है इतना,
वह था अजेय, वह तेजस्वी था रवि-सा।[2]

कृष्ण ने कर्ण की हत्या का समर्थन भी किया है। उनकी राय में कर्ण प्रतिहिंसा और घृणा का प्रतीक है। वह अहंभाव का उद्दाम पुजारी है। उसमें कभी भी करुणा, दया या ममता नहीं थी और केवल विनाश का ही अधिकारी था। उसके प्रत्येक रोम में प्रतिहिंसा की भावना भरी हुई थी। कर्ण की असीम सक्षमता और समर्थता जब घृणा और प्रतिहिंसा का वाहन बन गया तो कृष्ण ने कर्ण का विनाश अनिवार्य माना -

प्रत्येक रोम में लिये हुए प्रतिहिंसा
अस्तित्व घृणा का वह विकराल भयंकर,
कल्याण विश्व का था उसके मरने में
वह जन-जीवन में था समर्थ प्रलयंकर।[3]

कर्ण के चरित्र के विभिन्न पहलुओं से परिचित होने के बाद कर्ण पर कृष्ण द्वारा लगाया उपर्युक्त आरोप पूर्ण तौर पर उचित नहीं लगता क्योंकि कर्ण का संपूर्ण जीवन समाज के अमानवीय वर्ग रचना से संघर्ष का है।

---

1. "मेरे नाटक" - पृ:199
2. वही - पृ:200-201
3. वही - पृ:201

कर्ण की दानशीलता इतिहास सम्मत है। आसन्न मृत्यु के अवसर पर भी कर्ण ने एक वृद्ध को अपने दाँत का सोना दान दिया। जब विप्र वेष में कर्ण के अमरत्व छीन लेने के लिए इन्द्र ने दान के रूप में उसका कवच-कुण्डल माँगा तो बिना हिचके उसने उसे दे दिया। इन्द्र को उसने अपनी अमरता दी थी उसकी तुलना दधीचो के अस्थि-दान में ही मिलती है -

> वह वज्र कि जिस पर गर्व इन्द्र को इतना,
> मानव दधीचि के अस्थिदान से निर्मित।[1]

इस प्रकार अपने जीवन को भी दान देनेवाले व्यक्ति का दाँत के सोना देने में कोई भी अस्वाभाविकता नहीं दीखती। कर्ण की दानशीलता उसके अन्तस्थालो एक आहत अहम्मान्यता की प्रतिक्रिया है। दान देते समय कुपात्र और सुपात्र की चिन्ता उसे नहीं है। परिणाम पर भी उसने कभी नहीं सोचा। समाज द्वारा अपमानित और लांछित उसने समाज को अपने व्यक्तित्व के भार से नत कर देना चाहा। कर्ण की इस अहम्मान्यता के प्रति नाटककार के मन में एक गहरा लगाव है - मैं इतना स्वीकार करूँगा कि कर्ण की अहम्मान्यता इस पर मैं मुग्ध हूँ।"[2]

कर्ण का चरित्र समकालीन निम्न वंश में जन्मे व्यक्ति के अनेकायामी संघर्ष से जुड़ा है। इसलिए उसका चरित्र स्वयं सत्य है।

****

भग्न नारी हृदय का मौन स्पन्दन -

"पाँचाली"

पुरुष की सफलता और उन्नति के पीछे नारी का बलिदान और मौन उत्सर्ग छिपा हुआ है। पुरुष की खुशी के लिए वह अपनी सारी खुशियाँ न्योछावर कर देती है। मौन रूप से सारी व्यथा पीते हुए भी नारी पुरुष की प्रगति के मार्ग पर कोई रुकावट उपस्थित करना नहीं चाहती। भारतीय नारी की पति परायणता का यशोगान अनन्त काल से हुआ है। पति और परिवार के लिए अपना जो कर्तव्य है उसे निभाते-निभाते बेचारी नारी को कितनी आहें भरनी पड़ती है, अपनी बहुत सी कामनाएँ सीने में ही दबानी पड़ती है, सारी प्रतिकूल परिस्थितियों से समझौता करना पड़ता है। ऐसी सहनशील नारियों की अनूठी मिसाल हमें पुराणों में भी मिलती है। परिस्थितिवश पाँचों पांडवों की पत्नी बनी पांचाली को जानकी वल्लभ शास्त्री ने अपने गीति नाट्य के लिए केन्द्र बिन्दु बनाया।

"पाँचाली" में द्रौपदी के स्वयंवर तथा बाद में उसके मानसिक द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। स्वयंवर सभा में सभी राजा उपस्थित हैं। द्रौपदी वरण-माला लेकर खड़ी है। कर्ण, शल्य, दुर्योधन, शाल्व आदि वीर लक्ष्यबेध में पराजित हुए। द्रुपद का पितृ हृदय दुःख से भर गया। वे कराह उठे -

> लाक्षा गृह में जल गये न होते यदि अर्जुन,
> मेरी कन्या कन्या आजीवन क्यों रहती?[1]

द्रुपद का दुःख एक पिता का दुःख है जिसकी बेटी के विवाह के समय तक विवाह करने के लिए लड़के न पहुँचे। द्रुपद के हृदय विदारक क्रन्दन सुनकर एक ब्राह्मण के वेष में अर्जुन वहाँ पहुँचा और उसने लक्ष्य-बेध की अनुमति माँगी। लक्ष्यबेध में विजयी होकर उसने द्रौपदी का वरण किया।

स्वयंवर सभा से पांडवों के आवास स्थान की ओर लौटे वक्त द्रौपदी ने यह जान लिया कि लक्ष्यबेध करके उसे वरनेवाला और कोई नहीं, अर्जुन ही

---

1. जानकी वल्लभ शास्त्री "तमसा" - पृ:8।

है तो खुशी से खिल उठी।

संध्या हुई। उस समय तक अपने पुत्रों को न देखकर कुन्ती विह्वल हो उठी। जल्दी ही वे माता के पास पहुँचे और उस दिन की भिक्षा की सूचना दी। भिक्षा के बारे में सुनते ही उसे न देखने की कोशिश किये बिना उसने कहा -

देखूँ क्या पाँचों मिल भोगो
भिक्षा तो भिक्षा जैसी।[1]

अपनी जबान से यह बात निकली कि उसने पाँचाली को देखा। वह अपनी कथनी पर पश्चाताप करने लगी। उसने अपनी मानसिक व्यथा को व्यक्त करके अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी -

बेटी मेरी जीभ काट ले,
यह क्या मैं ने कह डाला?
यह बाला तो सहज उसीकी
जिसको पहनाई माला।
बेटा अर्जुन मुझे क्षमा कर
यही - यही क्या पाँचाली?
क्षमा, क्षमा पाँचाली,
स्वागत के क्षण मैं ने दी गाली।[2]

कुन्ती के प्रति पाठकों के मन में सहानुभूति जगाना नाटककार का उद्देश्य है। कुन्ती से अनजाने हुई भूल का समर्थन नाटककार ने किया है। क्यों-कि एक माँ होने के नाते वन में भटकनेवाले अपने बेटों के अनिश्चित भविष्य के प्रति शंकाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक है। उसकी चित्तवृत्ति कभी संतुलित नहीं रहेगी। उसने बेटों से अपनी आज्ञा को अनसुना करने का अनुरोध भी किया है -

---

1. "तमसा" - पृ:93
2. वही - पृ:93

उस माता की चित्तवृत्ति
सन्तुलित रहेगी क्या, बोलो?
पागल का प्रलाप सुनकर
जीवन रस में मत विष घोलो।[1]

उसने कभी नहीं चाहा कि अपनी आज्ञा का पालन करते हुए अपने घर का रौख न करे

चाहे सूर्य उगें पश्चिम में
वैश्वानर, हों हिम शीतल,
उलटी धार बहे गंगा की
या हो विचलित मेरु अचल,
पर यह बात नहीं होने की,
मुझे न हो मिथ्या गौरव,
मत पोलो, रौंदो न कमल कुल,
हो न बना घर को रौख।[2]

लेकिन बेटों ने अपनी माँ के वचनों को अनमोल माना और उसे विधाता के विधान से जोड़ दिया -

माता के अनमोल मोल में
स्खलन किन्तु दुर्लभ ही है
मुझे विधाता का विधान
अटपटा आज कुछ दिखता है
कौन कहे किसके अदृष्ट में
वह कब क्या कुछ लिखता है?[3]

तथा "पाँचाली हो पाँच भर्ता का" स्वीकार कर लिये। माता की आज्ञा को अनमोल मानकर वचन पालन पर अड़िग रहनेवाले पांडव भाइयों का चरित्र आज के यांत्रिक सभ्यतावाले वैज्ञानिक युग में अविश्वसनीय ही लगते हैं, क्योंकि प्रति-पल मानवीय

---

1. "तमसा" - पृ:94
2. वही - पृ:95
3. वही - पृ:94-95

मूल्यों के लड़खड़ाते इस युग में स्वार्थी पुरुष वचन पालन में इसलिए रुचि नहीं लेते कि ऐसे करने से बहुत सी अनमोल सुख-सुविधाएँ उनके हाथ से फिसल जाती हैं।

अतीत कथन के रूप में कुन्ती के विगत जीवन के जर्जर अनुभवों की ओर भी नाटककार ने संकेत किया है -

पुत्र न केवल देव रूप
कुछ देवों की धात्री भी हैं,
अश्रु ही न माँ की आँखों के
पत्थर की छाती भी है।
× × × × × × × × ×
पाँचाली, मेरे जर्जर जीवन का
क्रन्दन-भरा अतीत
जब जानेगी, नहीं रहेगी
तू भी मर्यादा का गीत।[1]

पांडवों के वचन पालन के साथ-साथ नाटककार ने एक बेचारी नारी के मानसिक उथल-पुथल की सशक्त अभिव्यक्ति भी दी है। पाँचाली ने यह सत्य जान लिया कि उसे पाँच पुरुषों की पत्नी बननी है, उसकी सारी आकांक्षाएँ चकनाचूर हो गयी। ऐसी परिस्थिति में पड़ी हुई पाँचाली के आंतरिक संघर्ष का चित्रण करने के लिए ही नाटककार ने तृतीय दृश्य की योजना की है। उसने अपनी सखी सुनन्दा से अपनी व्यथा व्यंग्य भरी वाणी से व्यक्त की है कि माता की आज्ञा है कि वह हृदय के खंड करे, पंच सौध बने, पंचशील आदर्श का पालन करे तथा पाँच जनों की बात मान ले।[2] सखी ने उसे सांत्वना दी और कोहबर में, जहाँ पांडव द्रौपदी की प्रतीक्षा में बैठे हैं, प्रवेश करके द्रौपदी से पांडवों को परिचित कराया। वे द्रौपदी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसकी प्रशंसा करने लगे। परिस्थिति वश पांचों पांडवों की पत्नी बनी पाँचाली के भग्न हृदय का परिचय उसके शब्दों से ही व्यक्त हुआ है -

---

1. "तमसा" - पृ:96
2. वही - पृ:98

क्या बालपन का स्वप्न भी।
सब ओर सतरंगे सुमन।
सौरभ विहीन न शूल भी।
रे आ गया यह कौन वन?[1]

सखी सुनन्दा के समझाने-बुझाने पर कि बदलती परिस्थिति में नारी को समझौता करना है, विद्रोह की भावना छोड़कर सहम होकर युग धर्म से डरकर जीना है, उसने युग धर्म के बारे में विचार विमर्श किया -

युग धर्म से मैं क्या डरूँ,
युग तीर पर, तलवार पर।
है धर्म भी मँझधार में
मैं खड़ी पार-कगार पर।।[2]

उसकी राय में नारी जीवन गीली इन्धन के समान है। उसे प्रज्वलित करने के लिए साँस से फूँक लेना है -

नारी जीवन गीला इन्धन, आग धुआँसी धीमे,
फूँक रही मैं साँस-साँस मेरी तो पाँचों घी में।[3]

दरअसल नाटककार ने पाँचाली के अन्तस्थल में घुसकर उसकी मानसिक व्यथा का प्रभावशाली वर्णन किया है।

शास्त्रीजी ने "पाँचाली" में आधार कथा से हटकर कुछ मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। एक है - कर्ण का लक्ष्यबेध करने का प्रसंग और दूसरा, द्रौपदी को दयनीय स्थिति देखकर अर्जुन के लक्ष्यबेध करने का निश्चय करना। "महाभारत" में कर्ण को अवैध पुत्र कहकर स्वयंवर सभा में लक्ष्यबेध करने से इनकार किया है। लेकिन यहाँ नाटककार ने कर्ण को भी लक्ष्यबेध के लिए अवसर दिया। लेकिन उसमें वह पराजित हुआ। कर्ण को लक्ष्यबेध के परीक्षण में दिलाकर नाटककार ने आज की भारत में प्रचलित

---

1. "तमसा" - पृ:101-102
2. वही - पृ:102
3. वही - पृ:97

वर्ण-व्यवस्था से मुक्ति पाने का उपदेश दिया है।

दूसरी मौलिक उद्भावना है, अर्जुन का लक्ष्यबेध के लिए अनुमति माँगने का। स्वयंवर सभा में उपस्थित राजा-महाराजाओं के असफल परिश्रम में द्रुपद दुःखी हुआ - इसका वर्णन मूल कथा में नहीं मिलता। "पाँचाली" में नाटककार ने द्रुपद की मानसिक विह्वलता व्यक्त की है। उसका दुःख केवल द्रुपद तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह सारे पिता का दुःख है जिनकी बेटी के विवाह के समय तक उसके वरन करनेवाला नहीं पहुँचे।

=========

लोकरक्षक का यशोगान -

"मुक्त पुरूष"

तामसी और सात्विक शक्ति के बीच का संघर्ष चिरकाल का संघर्ष है। सतयुग से लेकर कलियुग तक यह क्रम चलता आ रहा है कि निरंकुश बढ़ने-वाली तामसी शक्ति के ऊपर सात्विक शक्ति को विजय ही हुई है। जब कभी निरंकुश शक्ति की भूख बढ़ जाती है और शोषण दमन और अत्याचार पनपते हैं तभी कोई महापुरूष निरंकुश सत्ता का अन्त करने के लिए अवतरित होता है। जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने गीति नाट्य "मुक्त पुरूष" में कृष्ण जन्म से लेकर गोकुल-त्याग तक की घटनाओं के माध्यम से एक स्वेच्छाचारी शासक की नृशंसता तथा उस नृशंसता को दबाकर विजय पानेवाले पूर्ण पुरूष का चित्रण किया है।

"मुक्त पुरूष" का आरंभ एक पूर्ण पुरूष की प्रतीक्षा से हुआ। गोकुलवासियों का दृढ़ विश्वास है कि मुक्त पुरूष आयेगा। उनके आगमन से बन्दी मानवता न रहेगी। विश्व प्रकृति के हृदय की गाँठ केवल वही खोल सकेगा। लोगों का दृढ़ विश्वास है -

> जब आता पतझर,
> पास ही होता कहीं वसन्त।[1]

कंस की नृशंसता से गोकुलवासी ऊब चुके हैं। उसकी शासन व्यवस्था से गोकुल को मुक्त करने के वे आकांक्षी हैं। कंस की क्रूरता पर उन्होंने प्रश्न किया। -

> वृत्ति तामसी धर सकती है,
> जहाँ कंस का स्वप्न।
> वहाँ क्यों न सात्विक रूप
> धर लोक अगम अरूप?[2]

---

1. जानकी वल्लभ शास्त्री - "तमसा" - पृ:57
2. वही - पृ.58

लेकिन कंस का निष्ठुर शासन अविराम चलता रहा। उसकी अनुमति के बिना एक ही पत्ता डोल न सकता था। उसका अहं यों गूँज उठा -

> ये सारे भूपति दलपति
> यह सारा राज समाज।
> आज हमारी मुट्ठी में है,
> हम सबके सर ताज।।[1]

वह दंभ कर बैठा है कि वर्तमान ही सबकुछ है। अर्थात् भविष्य के बारे में उसकी कोई भी चिंता नहीं। वर्तमान ही जीवन है। उसकी विजय के सप्त सोपान पर वह चढ गया है। लेकिन देवकी के आठवाँ पुत्र के जन्म ने उनकी मानसिक शान्ति को नष्ट कर दिया है। अपने मन की व्याकुलता उसने प्रकृति पर भी देखी -

> कैसी व्यथा छिपाये हैं यह
> हरा-भरा नीलाम्बर?
> हम पर रोष। घोष अंगारी?
> तलवारी आक्रोश?
> वज्र गदा हम पर?
> जानें भी तो कुछ अपना दोष।[2]

कंस की मानसिक विह्वलता के बढ़ाते हुए देवकी तथा वसुदेव के कारागार से एक तीक्ष्ण आलोक दिखाई पड़ा, बन्दी मंदिर में मुक्ति-मूर्त का जन्म हुआ। इसी समय नन्दगोप के यहाँ भी एक शिशु का जन्म हुआ। गोपियाँ "नचारे मयूर श्यामधन" तथा वसुदेव गौरव यह क्या कम है" - कहकर खुशियाँ मनाने लगे।

कंस का व्याकुल मन स्थिर न रहा। उसने अपने अंतक को मिट्ठी से दूर करने के लिए अनेक कुचक्र रचे। लेकिन इन सभी कुचक्रों से कृष्ण बच गया तथा उन्हें कालपुरी भेजा। इनमें पूतना, शकटासुर, तृणावर्त प्रलम्ब आदि आते हैं। कंस-नीति से गोकुल वासियों को गरल ज्वाला से दग्ध करनेवाले नागराज कालिया को

---

1. "तमसा" - पृ:59
2. वही - पृ:60

कृष्ण ने गोकुल त्याग कर सिन्धु-किनारे अपना घर-संसार बसाने का उपदेश दिया। "कृष्ण ने तो उसपर कोई दोष नहीं देखा। क्योंकि सभी की अपनी-अपनी प्रकृति है। कुछ लोग तो स्वार्थवश प्रकृति के दास होते हैं तो और कुछ प्रकृति पर अपनी विजय पाता है। ऐसे लोग पुरुषार्थी बन जाते हैं।"[1]

इसी बीच वृन्दावन को आग निगलने लगी। गोकुलवासी कृष्ण को ढूँढ़ रहे थे जिसके द्वारा ही उनका दुःख-निवारण होगा। कृष्ण ने गोकुल आकर "मेघ मल्हार" में बाँसुरी बजायी और दावानल से गोकुल को बचाया तथा इन्द्र यज्ञ में व्यस्त गोकुलवासियों को यज्ञ की निरर्थकता व्यक्त की -

> इन्द्र यज्ञ का फल जल देता,
> नहीं यज्ञ जो करते वे प्राणी "पानी-पानी" चिल्लाकर
> हैं क्या मरते?[2]

यहाँ कृष्ण के ज़रिये यज्ञ-तपन आदि के प्रति नाटककार का ठोस व्यंग्य निखर पड़ा है। नाटककार ने हमें यह समझाया कि जल तो आदि-सृष्टि है। जिनपर हम निर्भर रहते हैं, यज्ञ उनके निमित्त होना चाहिए। अतः व्रजवासियों का यज्ञ धेनुओं के निमित्त होना चाहिए जिसका दूध वे पीते हैं, गोवर्धन पर्वत की हरित प्रकृति की पूजा करनी है जिसने अनेक बार अपनी चोटी उन्नत कर व्रज की रक्षा की है। यहाँ नाटककार ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि कर्म की पूजा करना आवश्यक है, जो सदैव हमारी भलाई करती है।

दावानल से जलते व्रज की रक्षा करनेवाले कृष्ण ने प्रलय में भी उसका साथ नहीं छोड़ा। उसने गोवर्धन गिरि को अपने हाथों लेकर सभी गोकुल-वासियों की रक्षा की। साथ ही इन्द्र के दंभ का दमन भी किया है। यहाँ नाटक-कार ने कृष्ण के अमानुषी पक्ष पर बल दिया है।

---

1. "तमसा" - पृ:66
2. वही - पृ:69

इधर कंस के अन्तर्द्वन्द्व ने उसे सुख की नींद नहीं सोने दी। उसे जान पड़ा कि उसका अन्तर्मन, दीवार में टंगे चित्र के रूप में उससे बातें कर रहे हैं। हर अत्याचारी या निरंकुश शासक आत्मयंत्रणा भोग रहा है। निरंकुशता की पराकाष्ठा में वह स्वयं अपना घातक बन गया। कृष्ण से भयभीत कंस का मन बेचैन है। इसलिए दीवार पर टंगे चित्रों पर नज़र फेरते समय उसे लगा कि ये चित्र उनके जघन्य पापों के प्रति उसे चेतावनी दे रहे हैं -

जिन शिशुओं का वध कर डाला,
हम हैं उनके मित्र!
कंस करो निज शांति पाठ,
पर नहीं मिलेगी शान्ति,
स्वप्न अजन्मा हैं हम,
लेंगे जन्म जभी हो क्रान्ति!
सप्तम तेज देवकी का था,
शेष नाग बलराम!
तुम तो कंस, नृशंस, क्रूर,
वह शूर वीर बलधाम!!
और आठवाँ काल तुम्हारा
सुन्दर नन्द किशोर!
वह मुख नयन अंगारे -
चुगना तज हों चन्द्र चकोर!![1]

चैन सुकून से रहित मन उसके अंकुश में न रहा -

यह कैसी दुर्बलता मन में?
कैसा तन में कंपन?
नयन फटकता वाम,
सामने तम का निर्मम निर्जन![2]

---

1. "तमसा" - पृ: 73
2. वही - पृ: 73-74

साथ ही उसने आनेवाले अपनी मृत्यु को भी देखा।

नाटक के अंत में कृष्ण के व्रज भूमि छोड़ने से व्रजवासियों तथा कृष्ण के मन में उमड़ पड़ी आकुलता का वर्णन है। दरअसल जानकी वल्लभ शास्त्री ने आदि से अंत तक कृष्ण के ब्रह्म रूप के स्थान पर कर्तव्य-परायण महा पुरुष के रूप में चित्रित किये हैं। उनमें राष्ट्रीय प्रेम, जातीय गौरव, लोक मंगल, विश्व कल्याण एवं उत्सर्ग की भावनाएँ हैं। यह स्पष्ट है कि इस मुक्त पुरुष में मानवोचित सभी गुण विद्यमान हैं। एक आदर्श महापुरुष के समान वे समाज सेवा, देश सेवा और मानव जाति के शुभ चिन्तन में निरत है।

****

अन्तरात्मा की पुकार -

"गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण"

कभी-कभी मनुष्य अपने में गर्विष्ठ होकर या अपने ही सुख की खोज में उत्तेजित होकर कुकर्म की चाल रचता है। कभी-कभी दूसरों के आदेशानुसार भी गलत राह पर भटकता है। ये लोग शायद कानून के बन्धन से बच निकलते हैं, लेकिन ऐसा एक कानून है जिससे उसको मुक्ति कभी संभव नहीं। यह है व्यक्ति की ज़मीर या अन्तरात्मा की पुकार। यह ज़मीर रह-रहकर उसे याद दिलाती है कि उसने आत्म सुख की खोज में मानवीयता का गला घोंट दिया है। यह अपराध बोध रह-रहकर मन को नोचता ही रहता है। उदयशंकर भट्ट ने "गुरु द्रोण का अन्तर-निरीक्षण" द्वारा उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध किया है।

"गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण" ने आचार्य द्रोण के अन्तर मन में प्रस्फुटित द्वन्द का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मानव सामाजिक प्राणि है। अतः परिस्थितियों का असर उसके जीवन पर पड़ना स्वाभाविक है। महाभारत काल सामाजिक संकीर्णताओं का काल रहा। आचार्य द्रोण भी उस संकीर्णता से बच न सका। उन्होंने "अपने हर कार्य को विवेक युक्त माना, किन्तु अंत में उन्हें लगा जैसे उन्होंने जो कुछ किया न धर्म था न न्याय भी।"[1]

आचार्य द्रोण ने अपने जीवन में जो कुछ किया उसका तर्क संगत विश्लेषण प्रस्तुत किया है और अपने द्वारा किये गये कार्यों का समर्थन किया है। लेकिन छाया के रूप में उसके अन्तर मन ने उससे प्रश्न किया और उसे दोषी ठहराया तो वह चिन्तित हो उठा और अपनी गलतियों को उसने स्वीकार कर लिया।

दुर्योधन के व्यंग्य-बाण से उन्हें दुःख हुआ। उसने अपने गुरु को वंचक माना, क्योंकि उन्होंने कौरव पक्ष का सेनापतित्व स्वीकार किया केवल तन से, उसका मन रहा पांडव पक्ष पर। मसलन अपने शत्रुओं को उन्होंने युद्ध के बीच समय

---

1. उदयशंकर भट्ट - "अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य" - किंचित वक्तव्य पृः ग

दिया है। केवल युद्ध में ही नहीं बल्कि अनादि काल से गुरु अर्जुन के पक्ष लेते रहे थे। यदि गुरु के मन में पक्षपात नीति न होती तो युद्ध में जयद्रथ की मृत्यु न होती। दुर्योधन के दोषारोपण का उन्होंने समर्थन किया कि वे धर्म पर अड़े रहे। वास्तव में पांडव-जन आधे राज्य का अधिकारी है। लेकिन दुर्योधन का पक्ष यह है कि राज्य जो भीख देने का साधन नहीं है, वह बल-बुद्धि से प्राप्त करने योग्य है। जो भी हो दुर्योधन के मन में गुरु के प्रति श्रद्धा की जो भावना थी वह नष्ट हो गयी है। उसके मन में गुरु के प्रति जो आत्मविश्वास था वह आज मिट गया है। उसका व्यंग्य बाण इसका प्रतीक है -

यदि आप युद्ध करे तन मन शक्ति से,
× × × × × × × × × × × ×
क्या नहीं पलट सकता पौरुष हमारा भाग्य -
यदि हम पौरुष से युद्ध करें गुरुवर।[1]

गुरु द्रोण ने इसे दुर्योधन का अहंकार बताया। लेकिन उनकी दुविधा ने छाया के रूप में आकर वही बात दोहरायी। उसने कहा कि उन्होंने सदा पक्षपात ही किया है। उन्होंने अपने स्वार्थ वश ही कौरव पक्ष का साथ दिया है। यदि जानते तो क्यों न अधर्म का पक्ष छोड़ देते।

छाया ने उन्हें समझाया कि द्रुपद के साथ उन्होंने जो किया वह कापुरुषता है। यदि वे पुरुषार्थी होते तो द्रुपद का आधा राज्य न माँगते। द्रुपद को नीचे दिखाने के लिए उन्होंने शिष्यों का सहारा लिया। इस प्रकार गुरु के पद का भी दुरुपयोग किया। गुरु के लिए सभी शिष्य एक समान होते हैं। निषाद होने के कारण एकलव्य का शिष्यत्व स्वीकार करने के लिए गुरु तैयार नहीं थे। अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को अग्रणीय बनाने के लिए एकलव्य जैसे एकनिष्ठ शिष्य को अंगुष्ठ -विहीन करके धनुर्विद्या से वंचित किया। अपनी पक्षपात-नीति के कारण ही अपने पुत्र को "बृहन्मुख घट" और अन्य शिष्यों को "अल्पमुख घट" दिया। उन्हें -

---

1. अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य" - पृ:80

केवल यही था ध्यान, अश्वत्थामा प्रिय पुत्र
पा सके अधिक ज्ञान और सब हेय हों।[1]

छाया ने आगे कहा कि स्वार्थवश ही द्रौपदी को विवस्त्रा देखकर भी वे कौरव सभा में चुप बैठे रहे। छाया की बात से प्रभावित होकर वे सोचने लगे -

एक व्यक्ति ऐसा था, ज्ञानवान होकर भी,
बना अज्ञानी अभिमान में निमग्न मूढ
जिसने दिया न कुछ, लिया भी न कोई देय
केवल कमाया पाप शाप ग्रस्त द्रोण वह।[2]

यहाँ गुरु के माध्यम से एक ऐसे व्यक्ति का रूप उभर आता है जो स्वार्थवश सभी कुछ कर बैठता है और अंत में सोचने विचारने पर व्यक्त होता है कि उसने जो कुछ किये वह सब छल था, अधर्म था। अपने किये हुए कर्म पर पश्चाताप होकर आत्माहूति को भी तैयार हो उठता है।

पूरा नाटक गुरु द्रोण की द्विधाग्रस्त मानसिकता से होकर ही आगे बढ़ा है। द्रोण के मन का यह संघर्ष, सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय के बीच में अनन्त काल से लेकर चलनेवाला संघर्ष है। अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुनकर अपने मन को कुरेदकर परखनेवाला द्रोणाचार्य उस सत्य से साक्षात्कार करता है कि जो व्यक्ति अपने मन को विवेक की लगाम न देता है, उसका हमेशा सर्वनाश होता है। स्वार्थ छल और विवेकहीनता का पल्ला पकड़कर दूसरों का चैन और खुद अपनी ज़िन्दगी का चैन नष्ट करनेवाले लोगों के लिए गुरु द्रोण का आत्मसंघर्ष एक सशक्त चेतावनी है।

****

---

1. "अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य" - पृ:93
2. वही - पृ:106

प्रतिशोधी मन की क्रूरतम प्रतिक्रिया -

"अश्वत्थामा"

दो महायुद्धों के प्रलयंकारी जनविनाशक रूप के गवाह बनने के बाद समूची दुनिया ने इस जलते सत्य को भली भाँति महसूस किया है कि युद्धोपरांत उपजनेवाली ह्रासोन्मुख संस्कृति में पलनेवाले समाज और मानव मन में सदैव कुण्ठा, पराजय, प्रतिशोध, निराशा, रक्तपात, बर्बरता और विवेकशून्यता ही भरे रहते हैं। युद्ध की विभीषिका व्यक्ति के विवेक को नष्ट कर देती है और परिस्थितिवश वह बर्बरता एवं अंधकार में जीने लगता है। उदयशंकर भट्ट का यह नाटक परिस्थितियों के भीतर मानव मन की इसी कुरूपता का उद्घाटन करता है।

"अश्वत्थामा" में नाटककार ने प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा के प्रतीक अश्वत्थामा के मानसिक संघर्ष का उद्घाटन किया है। मानव के प्रतिहिंसाजन्य पतन का बीभत्स रूप है अश्वत्थामा, जिसकी विभिन्न मनःस्थितियों की अनेकानेक परतें इस नाट्यकाव्य में अत्यंत मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्भूत की है।

नाटक का आरंभ अश्वत्थामा के कुकृत्यों के प्रति उसके पश्चाताप के रूप में हुआ है। प्रतिशोध से वशीभूत होकर वह कुरुक्षेत्र युद्ध की अंतिम रात्री में पांडव शिविर में पहुँचा और वहाँ सोये पड़े सैनिकों, पाँचों पांडव पुत्रों तथा अन्य पांडव जनों को मार डाला। उसके बाद शिविर में आग लगा दी। अश्वत्थामा द्वारा बदला लेने का समाचार सुनकर दुर्योधन संतुष्ट हुआ। लेकिन अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा से पाँचों पाण्डव बच गये, यह जानकर वह हतप्रभ हो गया। उसकी शत्रुता पांडवों पर ही थी। यदि अश्वत्थामा के प्रतिशोध का पांडव पात्र बने तो वह संतुष्ट हो जाता। अपने शत्रु के पुत्र होने पर भी पांडव-पुत्रों की हत्या के समाचार ने उसे दुःखी बना दिया। पुत्रों के प्रति उसकी ममता यहाँ व्यक्त हुई है।

दुर्योधन को दुःखी देखकर अश्वत्थामा के मन में ग्लानि उत्पन्न हुई। वह प्रेत-सा उसका निधन देखता रहा। उसका मन पश्चाताप से भर उठा कि

उसकी प्रतिहिंसा का अपने स्वामि पर कोई असर न पड़ा, उसे किसी तरह की सांत्वना न मिली। यदि कोई व्यक्ति अपने स्वामि को प्रसन्न करने के लिए कोई कार्य करता है और वह कार्य स्वामि को संतुष्ट न करे तो उसे ग्लानि होना स्वाभाविक है। यहाँ तो दुर्योधन मृत्यु के मुँह तक पहुँच गया है। ऐसे स्वामि को अश्वत्थामा संतुष्ट न कर सका। इसलिए उसकी आत्मग्लानि अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी।

इसी बीच क्रोधांध होकर भीम पहुँचा और उसने अश्वत्थामा को मारने के लिए उसका पीछा किया। वे गंगा तट में व्यास के आश्रम में पहुँचे कि कृष्ण तथा उसके साथ युधिष्ठिर और अर्जुन भी वहाँ पहुँचे। अर्जुन और अश्वत्थामा के बीच घोर संग्राम हुआ। दोनों नर संहारक शस्त्र छोड़ने लगे। लेकिन अंत में अर्जुन ने उसे परास्त किया। गुरु पुत्र होने के नाते युधिष्ठिर ने उसे क्षमा कर दी, पर उसके मस्तक की मणि निकाल दी जिसके फलस्वरूप वह ज्ञानहीन, निर्बल, निसहाय हो गया।

अश्वत्थामा पहले तो वीर था तथा सदय और विद्वान भी। अपने पिता का अधर्म से वध, कर्ण का निधन, पितामह का पक्षपातपूर्ण आचरण तथा दुर्योधन से भीम का छल आदि ने उसे क्रूर तथा प्रतिशोधी बना दिया है। नाटक-कार ने यहाँ यह दिखाया है कि एक विद्वान, सदय अश्वत्थामा पराजय की अग्नि में धधकते हुए कितना क्रूर और निर्दय बन गया है, पराजय के कारण उसका मनो-वैज्ञानिक रूप कुत्सित हो गया है।[1] उसकी सारी शक्ति ने प्रतिशोध का रूप धारण कर लिया है -

> मेरा बल अक्षय है, मेरा बल निश्चय है,
> मेरा बल प्रतिहिंसा, प्रतिशोध मेरा बल।[2]

प्रतिशोध की भावना ने उसे अज्ञानी बना दिया है। नाटककार का यह कथन ठीक ही निकलता है - "वह मनुष्य की प्रकृति का क्रूरतम चित्र है जो न्याय, मर्यादा का उल्लंघन करके एकदम बीभत्स हो उठता है।"[3]

---

1. मनोरमा शर्मा -"नाटककार उदयशंकर भट्ट" - पृ:154
2. "अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य" - पृ:113
3. वही - किंचित् वक्तव्य - पृ:ग

यह तो स्वाभाविक है कि अश्वत्थामा की विद्रोही आत्मा ने उसे पशु का रूप धारण करने के लिए विवश कर दिया। उसके मन की सारी कोमलतम भावनाओं का नृशंसापूर्ण हनन हो जाने पर उसके रोम-रोम से प्रतिहिंसा के स्वर झंकारने लगे। अपने मस्तिष्क में अभावों का भाव लेकर जीनेवाले अश्वत्थामा ने महसूस किया -

जीवित ही प्रेत हूँ जीवित ही राक्षस
घाव लेकर जीता है, ईर्ष्या से जलता
मन विनाश के लिए कटिबद्ध है।[1]

कृतवर्मा और कृपाचार्य ने अश्वत्थामा को समझाया कि क्रोधवश कभी निर्दय न होना है। ऐसा करना राक्षसों का काम है। लेकिन उसका लहू प्रतिशोध से खौलता ही रहा। प्रतिहिंसा की भावना से तन मन जलनेवाले व्यक्ति पर उपदेश का असर कभी नहीं पड़ता। यही कारण है कि अश्वत्थामा में भी बर्बरता अपनी चरम सीमा को ही लांघ गया है। उसके मन में जब रह-रहकर यह चिन्ता उठ रही कि पांडवों ने छल किया और अर्धसत्य के सहारे पिता की हत्या की, धोखा देकर कर्ण का वध किया, जंघा में आघात करके दुर्योधन को मार डाला। अर्धसत्य बोलनेवाला तथा पत्नी को भी दाँव पर रखकर खेलनेवाला व्यक्ति सत्यवादी धर्मरत बन गया तो उसकी नस-नस में, शिराओं में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की ज्वाला सुलगने लगी। मानव के खून से लथ-पथ, मरघट में परिणत हुई कुरुक्षेत्र भूमि पर खड़े होकर उसे लगा -

लगता है मुझको इस विनाश में समुल्लास
बज रहे हैं डमरू विनाश के गगन भेद
घोर घोर रौख का दर्दनाक नाद है।
मेरे प्राण चीखते हैं धमनी पुकारती हैं
अब भी शेष कुछ करने को कृपाचार्य।[2]

---

1. "अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य" - पृ:।।2
2. वही - पृ:।2।

प्रतिहिंसा से समूची मानवता का नाश देखकर नाटककार की आत्मा छटपटा उठी। नाटक के अन्त में अपने किये हुए जघन्य पापों पर पश्चाताप करनेवाले तथा प्रतिहिंसा से घृणा करनेवाले अश्वत्थामा के शब्दों में -

नहीं नहीं दूर हटो दूर हटो प्रतिहिंसे
आज यह मेरा पथ तुम से घृणित है।
तुम हो प्रतीक युद्ध तुम हो घृणा की पुंज,
तुम यहाँ समाप्त होता मानव विवेक है
दूर हटो दूर हटो भयभीत मैं हूँ आज।[1]

प्रतिहिंसा के प्रति नाटककार की घृणा ही मुखरित हुई है।

परंपरा से यह धारणा रूढमूल हो चुकी है कि कौरव का पक्ष अन्याय का है और पांडव का पक्ष न्याय का। लेकिन आधुनिक युग के साहित्य में बुद्धिवादी दृष्टिकोण के विकास के साथ साथ लेखक नये सिरे से सोचने लगे कि क्या अन्याय सिर्फ कौरव पक्ष से ही हुआ है और पांडव पक्ष से कोई भूल नहीं हुई है ? उदयशंकर भट्ट ने भी ऐसे एक तटस्थ दृष्टिकोण लेकर पौराणिक पात्रों का विश्लेषण किया। परिणामत: वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पांडवों में भी अवश्य कुछ कमज़ोरियाँ थीं और इन कमज़ोरियों से उपजी परिस्थितियों ने अश्वत्थामा को बर्बर और पाशविक बनाने के लिए उकसाया।

****

---

1. अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य - पृ:।५।

मुक्त प्रणय की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति -

"सूर्यमुख"

नव लेखक प्रयोगशीलता के प्रति सक्रिय दिखाई पड़ते हैं और यह प्रयोगशीलता कई पहलुओं को लेकर हो सकती है। अपनी रचनाओं में प्रगतिशीलता लाने के लिए परंपराओं को तोड़ना वे अनिवार्य मानते हैं। एक लेखक परंपरा को तोड़ता है इस कारण से उसे हम दोषी नहीं मान सकते हैं। परंपरा का खंडन करते समय उसे अवश्य याद रखनी पड़ती है कि परंपरा में जड़ और चेतन दोनों तत्व हैं, जड़ तत्व को फेंकना है और चेतन तत्व को अवश्य स्वीकार करना है। परंपराओं को तोड़ते हुए यदि लेखक पाठकों की बद्धमूल धारणाओं पर ठेस लगाना चाहता है या उनकी चेतना को झटका देना चाहता है तो वह अवश्य अन्याय ही होगा। जन समुदाय के संस्कारों का सम्मान करना आवश्यक है। पुनीत प्रेम का यशोगान भारत संस्कृति में सदैव हुआ है। नैतिकताओं की सीमाओं का उल्लंघन करनेवाले प्रेम का समर्थन कभी नहीं हुआ है। लेकिन आधुनिकता के मोह में पड़े हुए रचनाकार सारी नैतिकताओं के बन्धनों को लांघनेवाले स्वच्छन्द या मुक्त प्रेम के हिमायती बनते हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक "सूर्यमुख" इतिहास पुरुष कृष्ण की अंतिम रानी वेनुरती और कृष्ण-रुक्मिनी पुत्र प्रद्युम्न इन दोनों की प्रणयानुभूति के माध्यम से प्रणय संबंधी मूल्यगत क्रान्ति का रूप प्रस्तुत करता है।

कृष्ण की अंतिम रानी बनकर वेनुरती जब पहली बार महल में आयी, घूँघट उठाकर देखी तो सबसे पहले प्रद्युम्न पर उसकी दृष्टि पड़ी। उस प्रथम मिलन से ही दोनों में प्रेम पलता है। उस प्रथम मिलन का वर्णन वेनुरती खुद देती है - उस क्षण कृष्ण के हाथ का वह कमल सहसा नीचे गिर गया था, तुम ने तब किस शक्ति और विश्वास से उस कमल को उठाकर मेरी वेणी में गूँथ दिया था।[1] दोनों के बीच का प्रेम तीव्र हो जाता है। कृष्ण को इसका पता मिलते ही वे बहुत उदास होते हैं और अपने पुत्र को निर्वासन का दण्ड देते हैं। सारे द्वारिकावासी इस विपरीत प्रेम

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - सूर्यमुख - पृ:41-42

की भर्त्सना करते हैं। यहाँ तक कि मृत्यु शय्या पर पड़े महाराज उग्रसेन की आत्म-शान्ति के लिए जब रुक्मिनी दान बाँट रही है तो एक भिखारी रुक्मिनी के हाथ से दान स्वीकार करने से हिचकता है। यह इसलिए कि वह "अधर्मी की माँ के हाथ का दान नहीं चाहता।[1]" भिखारियों के इस व्यवहार से रुक्मिनी बहुत क्षत-विक्षत हो जाती है। यह विपरीत प्रेम कृष्ण के मन, प्राण को तोड़ता है, उन्हें बिलकुल विवश बनाता है। वे द्वारिका से बहुत दूर जंगल में चले जाते हैं। रुक्मिनी के मन में वेनुरती के प्रति प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। अपने पुत्र को झूठे प्रेम-पाश में बाँधकर अपने प्रभु के मन, प्राण को तोड़नेवाली वेनु को ऐसी "अधर्मी और अपरा-धिनी पुकारती है जो द्वारिका की शान्त रजनी में पुच्छल तारा की तरह एकाएक उदित हुई।[2]" निर्वासन का जो दण्ड प्रद्युम्न को मिलता है वह निरर्थक है क्योंकि हर अमावस्या की रात मुखौटा लगाकर राजमहल में वेनुरती से मिलने आता है। इसी बीच जंगल में कृष्ण को सोते देखकर मृग के भ्रम से जरा नामक व्याध तीर से मार डालता है। कृष्ण पुत्र साम्ब और वभ्रु जरा को पकड़कर ले आते हैं। वे उनको प्राण दण्ड देना चाहते हैं। नाग कुंठ की पहाड़ियों में रहनेवाले प्रद्युम्न के पास वेनुरती खुद रथ हाँकती हुई पहुँचती है। नगर में जरा को पकड़े जाने की खबर प्रद्युम्न को मिलती है, साथ ही साथ मुखौटों को तोड़कर वापस आकर डूबनेवाली द्वारिका को बचाने का अनुरोध भी करती है। प्रद्युम्न के द्वारिका में पहुँचने के पहले ही वभ्रु साम्ब को पराजित कर जरा को अपने अधिकार में ले लेता है। उग्रसेन की मृत्यु के बाद द्वारिका के राजसिंहासन का अधिकारी बनने की लिप्सा वभ्रु में तीव्रतम है। इसलिए वह जरा को मृत्यु की धमकी देकर उसके मुँह से जनता के सामने कृष्ण की यह अंतिम घोषणा सुनाने की योजना बनाता है कि अंतिम क्षण में कृष्ण ने वभ्रु को उत्तराधिकारी के रूप में चुन लिया था। लेकिन ठीक समय पर ही प्रद्युम्न वहाँ पहुँच जाता है और अपने मुखौटे को चीरता हुआ जरा को मुक्त करने की आज्ञा देता है। द्वारिका में लौटने के बाद ही प्रद्युम्न यह समझाता है कि भोज यदुवंशी वभ्रु के नेतृत्व में, भिन्नि वंशी यादव साम्ब के नेतृत्व में परस्पर लड़ रहे हैं। विष्णि वंशी को छोड़कर कोई भी नागरिक प्रद्युम्न को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। वे प्रद्युम्न को अधर्मी ही मानते हैं

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल "सूर्यमुख" - पृ:3
2. वही - पृ:67

क्योंकि द्वारिका के नाश का कारण प्रद्युम्न का अवैध प्रेम ही है। जब कृष्ण पुत्रों में उत्तराधिकार की लड़ाई चल रही थी तो प्रतिदिन द्वारिका विनाश के कगार की ओर बढ़ती जा रही है। द्वारिका के भविष्य की चिन्ता प्रद्युम्न को छोड़कर और किसी को नहीं है। उग्रसेन की मृत्यु के बाद वभ्रु और साम्ब के बीच का राज-सिंहासन के लिए युद्ध उग्र रूप धारण करता है। अपनी विष्णि वंशी सेना के साथ प्रद्युम्न भी युद्ध के लिए निकल पड़ता है। युद्ध नगर भर फैल जाता है। एक वंश दूसरे की हत्या करता रहता है। इसी बीच कृष्ण के पूर्व आदेश के अनुसार सारी यादव स्त्रियों को सुरक्षा पूर्वक हस्तिनापुर ले जाने के लिए अर्जुन द्वारिका पहुँचता है। द्वारिका का अनुभव उसे एकदम नया लगता है। वह कहता है - मनुष्य की मर्यादा अपने यथार्थ की स्वीकृति में ही है। द्वारिका में आकर मैं ने आत्मसाक्षात्कार किया। मैं इस यात्रा के प्रति कृतज्ञ हूँ।' यह मनुष्य को जितनी विजय देता है उतना ही वह उसे पराजित भी करता है।[1] जब वह रानियों के साथ हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करता है तब एक यादवी का एक पुत्र पैदा होता है। दुर्गपाल के आदेशानुसार उस नवजात शिशु को भी द्वारिका के भविष्य के लिए ले जाती है।

प्रद्युम्न विजयी होकर अपनी प्रेमिका से मिलने आता है तो पता चलता है कि अर्जुन रानियों को लेकर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर चुका है। विह्वल प्रद्युम्न राज-मुकुट को ठोकरे के समान छोड़कर वेनुरती की खोज में निकल पड़ता है। रास्ते में वह वेनुरती से मिलता है।

प्रद्युम्न के पहले ही साम्ब वहाँ पहुँचता है। उससे समाचार मिलता है कि वभ्रु ने पूरी द्वारिका पर आग लगा दी है। प्रद्युम्न द्वारा उपेक्षित राज मुकुट वह रुक्मिनी को सौंप देता है। रुक्मिनी वभ्रु से लड़ाई करने की अर्जुन से प्रार्थना करती है। लेकिन युद्ध करने की अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए वह तलवार छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करता है।

इसी समय व्यास पुत्र आकर राजमुकुट खींच लेता है। साम्ब उसका वध करता है। वभ्रु आकर प्रद्युम्न से युद्ध छिड़ता है। वेनुरती भी अर्जुन के छोड़े

---

1. "सूर्यमुख" - पृ:109

तलवार लेकर युद्ध करती है। वेनुरती और प्रद्युम्न दोनों घायल होते हैं। अंत में दोनों की मृत्यु भी हो जाती है। रुक्मिनी अपने पुत्र प्रद्युम्न की स्मृति में पृथ्वी के नवजात शिशु और अन्य स्त्रियों को लेकर द्वारिका लौटती है - मैं तुझे इसी शिशु से जीवित रखूँगी। तेरी जय यात्रा पर्वत के जिस शिखर पर टूटी है, वहीं से यह यात्रा अब आरंभ होगी।[1]

"सूर्यमुख" में मुख्य धरातल प्रेम का ही है। डॉ.लाल माँ और पुत्र के अवैध प्रेम को स्वाभाविक और अनिवार्य करने की पहल करते हैं। वे कलह और स्वार्थलिप्सा के काले समुद्र में माँ-बेटे के प्रणय के सहज संबंध में ही "सूर्यमुख" का दर्शन करते हैं। उनका यह मंतव्य नाटक में कई स्थानों पर दुर्गपाल के शब्दों में मुखरित है - सूर्यमुख है वह उसने इस अंधकार में प्रेम का एक नया मन्वन्तर प्रारंभ किया है क्रांति ही जीवन की रक्षा है, और यह प्रेम वही क्रांति है, यही है इस अंधकार का सूर्यमुख।[2] नाटक का वृद्ध भी इस प्रणय का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ता है। रुक्मिनी को समझाते हुए वृद्ध कहता है - मैं आपसे यही कहने आया हूँ कृष्ण-तनय प्रद्युम्न का वेनुरती से प्रेम सर्वथा सहज और धर्मसम्मत है।[3] दुर्गपाल और वृद्ध के माध्यम से नाटककार यद्यपि दोनों के प्रेम का समर्थन करता है फिर भी इन दोनों के मन में अपने प्रेम के प्रति अपराध बोध को भी दिखाता है। प्रद्युम्न अपनी प्रिया वल्लभा वेनुरती के प्यार में पाप और अनौचित्य देखने लगता है, वह वेनु से पलायन करता है, यहाँ तक कि उसे "निर्लज्ज और विश्वासघातिनी"[4] कहता है। लेकिन वेनुरती में इतनी अधिक आकर्षण शक्ति है कि वह वेनु को प्यार करने के लिए विवश होता है। इसलिए वह कहता है - तुम मंत्र की तरह मुख पर छायी रहती हो।[5] वेनुरती प्रद्युम्न के द्वन्द्व का निराकरण करते हुए आत्मनिवेदन करती है - हम दोनों में दोनों था। दोऊ .... दोऊ दोऊ दोऊ अब और प्रश्न मत करो मुझसे। अन्तःपुर में, उस पहले दिन जब तुम्हें देखा था, तुम्हें समर्पित हो गयी थी, यद्यपि मैं लज्जित थी। जिस दिन मैं तुम्हारे अंक में सोयी थी, उस दिन

---

1. सूर्यमुख - पृ:122
2. वही - पृ:13-14
3. वही - पृ:34
4. वही - पृ:41
5. वही - पृ:43

यद्यपि मैं घृणा से भरी थी, फिर भी मैं ने तुम्हें प्यार किया था। उस दिन भी मैं लज्जित थी, यद्यपि तुम्हें अंक में कस लिया था, जब तुमने जरा के बहाने मुझे अपमानित किया था पर आज लज्जित नहीं हूँ, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।[1]

नाटककार द्वारा समर्थित प्रेम प्रसंग की सराहना कई आलोचकों ने की है। उसपर आपत्ति भी एकाध आलोचकों ने उठाई है। वीरेन्द्र कुमार जैन ने इस प्रेम को स्वाभाविक मान लिया।[2] डॉ. रमेश गौतम की राय में सामाजिक मार्यादिता की दृष्टि से प्रद्युम्न और वेनुरती का प्रेम संबंध इस नाटक को आधुनिक मनोविश्लेषणवाद की पीठिका प्रदान करता है।[3]

"अंधकार में एक मन्वन्तर" प्रारंभ करने का दावा करनेवाले प्रेम का जो वर्णन नाटक में किया है उसपर डॉ. सिद्धनाथ शर्मा ने प्रश्नचिह्न लगाया है।[4] डॉ. चन्द्रशेखर इसे पंडितों की अज्ञता समझते हैं।[5] एक अन्य विद्वान के मत में प्रद्युम्न को कृष्ण की किसी पत्नी के प्रेमी के रूप में प्रस्तुत करना ऐसा निरर्थक स्वेच्छाचार है,

---

1. सूर्यमुख - पृ:117-118
2. "प्रणय तत्व की सर्वोपरिता और अनिवार्यता के सारे द्वन्द्व सामाजिक पाशों से परे लाल ने एक महा सत्य के रूप में प्रतिष्ठित की है।"
   - रघुवंश (सं) कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल - पृ:24
3. "लाल ने मानवीय संबंधों में परंपरानुमोदन या धर्म-सम्मत दृष्टिकोण की उपेक्षा इसलिए की कि उन्होंने सामाजिक मर्यादा की तुलना में मानवीय अनुभूतियों और भावनाओं को भी सर्वोपरी माना और उसे मान्यता प्रदान की।"
   - डॉ. रमेश गौतम "समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:99-100
4. "वर्तमान भारतीय समाज अपने विकास के जिस चरण से अभी गुज़र रहा है, उसमें इस नये मनवन्तर को कहाँ तक उचित मानता है, इसे कहाँ तक स्वीकार्यसमझता है, यह अवश्य ही विवाद विषय है।"
   - रघुवंश (सं) कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल - पृ:121-122
5. "जिन पंडितों ने माँ-पुत्र के अवैध संबंध में आधुनिकता ढूँढ निकाली है, यह आधुनिकता नहीं उनकी अज्ञता का परिणाम है।"
   - डॉ.चन्द्रशेखर "समकालीन हिन्दी नाटक:कथ्य चेतना" - पृ:260

जो अक्षम्य तो है ही साथ ही जिससे आधुनिक रचना में मिथक के प्रयोग द्वारा बहुस्तरीय अर्थवत्ता की सृष्टि का उद्देश्य भी किसी तरह पूरा नहीं होता। पुराणों के अनुसार प्रद्युम्न कृष्ण और रुक्मिणी के सबसे प्रिय और विश्वस्थ पुत्र थे और उनके बीच ऐसा कोई द्वन्द्व या संघर्ष कभी पैदा नहीं हुआ।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सार्थक मानवीय मूल्यों की तलाश करनेवाला कोई भी व्यक्ति नैतिकता के सारे बन्धनों को तोड़ने-वाले स्वच्छन्द मुक्त प्रेम का समर्थन नहीं कर सकता।

माँ-पुत्र के अवैध प्रेम प्रसंग के अतिरिक्त इस नाटक का एक दूसरा पहलू है जो इसे अर्थ का नया आयाम देता है, समकालीन राजनीति से जोड़ता है। पौराणिक प्रसंग को आधार बनाकर राष्ट्र की घुटती आत्मा को वाणी देने का जो प्रयास लाल ने किया है, उसका समर्थन कई आलोचकों ने किया है।[1]

"सूर्यमुख" में काल समुद्र का द्वारिका को चारों ओर से घेर लेने-वाला प्रसंग स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद भारत की अनिश्चयात्मक स्थिति से मेल खाता है। डॉ. दयाशंकर शुक्ल के अनुसार "सूर्यमुख" में काल समुद्र का द्वारिका को चारों ओर से घेर लेना भारत पर दोनों ओर चीन और पाकिस्तान के आक्रमण का संकेत करता है।[2]

---

1. (अ) "सूर्यमुख" का आधुनिक जीवन संदर्भ उसमें निहित समसामयिक बोध व्यक्ति और समाज के संघर्ष का एक अन्य कोण बिन्दु है।" - डॉ. दयाल शंकर शुक्ल
(डॉ. रघुवंश (सं) "कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल" पृ:138)

(आ) "सूर्यमुख" में आधुनिक युगबोध के भी अनेक सुर-बार सुनाई पड़ते हैं और हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। आज के राजनीतिक संदर्भ की चेतना इस नाटक में अनेक स्थलों पर मुखरित हुई है।" - सिद्धनाथ कुमार
(डॉ. रघुवंश (सं) "कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल" - पृ:122

2. डॉ. दयाशंकर शुक्ल "लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच" - पृ:88

महाभारत के सूत्रधार कृष्ण को और एक युद्ध भी देखना पड़ा। वह है द्वारिका के उत्तराधिकारियों के बीच का युद्ध। कृष्ण की मृत्यु के बाद वह और भी घोर रूप धारण करता है। भारत की स्वतंत्रता का सूत्रधार महात्मा गाँधी थे। उन्होंने अहिंसा और शान्ति को स्वतंत्रता प्राप्ति का माध्यम बनाया। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन माध्यमों का कोई स्थान न रहा। जो लोग गाँधीजी के ही साथ रहे थे, उन्होंने अधिकार के लिए, कुरसी के लिए इन माध्यमों को ठुकरा कर दिया और वे हिंसात्मक रीति अपनाने लगे। भारत की एकता में भंग पड़ा। वह दो टुकड़ों में बँट गया। देश में अकाल भीषण रूप धारण करने लगे। नेताओं को जनता की ओर ध्यान रखने को समय नहीं था। वे अपने हाथ में आयी कुरसी को मज़बूत रखने के लिए स्वार्थ-वश काम करते रहे। परिणाम यह हुआ कि देश में अशान्ति फैल रही। लोग विश्वासघाती बन गये। जनता रोटी के टुकड़ों के लिए परस्पर लड़ने लगी। भिखारियों की संख्या बढ़ने लगी। देश में लूट-मार बढ़ता रहा। नेताएँ बारी-बारी से अधिकार में आयीं लेकिन देश की स्थिति में कोई अन्तर न आया। यही स्थिति महाभारत के बाद द्वारिका में भी हुई। कृष्ण की मृत्यु के बाद उनके ही पुत्रों के बीच अधिकार हडपने के लिए युद्ध छिड़ जाता है। द्वारिका में अशान्ति ही अशान्ति फैल रही है। प्रतिदिन रोगियों और भिखारियों की संख्या बढ़ती जा रही है। वे रोटी के टुकड़ों के लिए आपस में छीना-झपटी करने लगे। वस्तुओं के दाम इतने बढ़ गये कि मनुष्य अपने को बेचकर भी उसे न खरीद पाता।[1] द्वारिका दिनों-दिन काल समुद्र में डूब रही है। इसी समय नगर में लूट-मार, व्यभिचार आदि भी शुरू होती है। किसी को अपने घर-बार नष्ट हुए। नगर के स्वर्णकार को अपना घर नष्ट हुआ, लुटेरे ने शिल्पि की आँखें फोड़ डालीं, मछुवारे को अपनी नाव नष्ट हुई। हर कहीं नाश ही नाश दिखाई पड़ा। नगरवासी इन सर्वनाशों का कारण रुक्मिणी को इसलिए ठहरते हैं कि उसका पुत्र अपनी ही विमाता से अनुचित प्रेम संबंध रखता है। इन्दुनाथ मदान के अनुसार महाभारत के पश्चात् द्वारिका बड़े बड़े लोगों से खाली हो चुकी है और उसमें युवा पीढ़ी सबका विरोध करती है। पीढ़ी एवं वर्ग संघर्ष, जाति और धर्म विद्वेष, अधिकार प्राप्ति

---

1. "सूर्यमुख" - पृः18

की आकांक्षा, दायित्वहीनता आदि विकृतियाँ निश्चय ही शाश्वत मानवीय मूल्यों का ह्रास करने में सहायक होती हैं और राष्ट्रीय एवं सामाजिक विघटन का मार्ग प्रशस्त करती है। इन मानवीय मूल्यों और राष्ट्रीय भावात्मक एकता को स्थापित करने के लिए नाटककार ने कर्मयोगी कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न को चुना है।[1] वह वेनुरती के प्रणय बंधन में आबद्ध है तो भी द्वारिका में शांति स्थापित करने और द्वारिका के पुनः निर्माण के महान कार्य में तत्पर है।

विरोधी घृणांश के दुर्धर्ष ज्वार द्वारिका के पुरजन, कृष्ण के पुत्र - वभ्रु, साम्ब और प्रद्युम्न - उठाते हैं। डॉ. प्रतिभा अग्रवाल की राय में "प्रद्युम्न, वभ्रु, साम्ब - तीन अग्रणी हैं। समकालीन संक्रमण की विविध परिणतियाँ इनके माध्यम से सामने आयी हैं।[2] जनता को प्रद्युम्न के विरुद्ध भड़काने में वभ्रु लगा हुआ है। अपने पक्ष को प्रबल बनाये रखने के लिए वभ्रु अपने पिता के विरुद्ध घृणा फैलाने से भी नहीं चूकता। वह सत्ता लोलुप होकर अधिकार हड़पने के लिए पिता के हत्यारे - जरा - से प्रतिशोध लेकर स्वयं उत्थापित होना चाहता है और उसे अपने पक्ष में करना चाहता है। वह अपने पिता के प्रति न केवल अनम्र है प्रत्युत सर्वथा अनिष्ट भी। उसका यह शील उसके ही शब्दों में व्यक्त होता है - "शृंगारी पिता यदि देश की सारी सुन्दरियों से व्याह कर ले, और स्वयं चुपचाप दिवंगत हो जाय"....[3]

जनता के सामने जरा को स्वतंत्र निर्भीक अभिव्यक्ति देने से वह रोकता है। उन्हीं से वह जन-मन में आतंक फैलाता है। वह जन-मंगल विधायिनी शक्तियों का शत्रु है - "मैं वही शत्रु, वही काल, वही जरा हूँ और मैं यहाँ से प्रद्युम्न का सिर और राजमुकुट दोनों एक संग ले जाऊँगा।[4] उसकी संहार शक्ति उसे अधिक असुरक्षित बनाती है और यह उसकी पराजय का कारण भी बनती है।

साम्ब में स्वस्थ रचनात्मक विरोध का निस्पृह रूप उभरा है। वह राजभोग नहीं चाहता। केवल जन-मानस को अपने अधिकार और कर्तव्य बोध की

---

1. इन्द्रनाथ मदान "आधुनिकता और हिन्दी साहित्य" - पृ:202
2. धर्मयुग - जुलाई 1968
3. "सूर्यमुख" - पृ:75
4. वही - पृ:114

दिशा देने और सत्ता तथा शासन दोनों में संतुलन बनाये रखने के लिए लड़ता है। परन्तु वह भी अपनी विरोधी भूमिका जमाने के लिए कृष्ण विरोधी बन जाता है। ऐसा विरोध ही द्वारिका में काल-सागर को आन्दोलित करता है, जो अपनी प्रलय-लहरों से द्वारिका को निगल जाता है। "सूर्यमुख" में साम्ब के माध्यम से ऐसे ही अविरोधी विरोध का एक लंबा चित्र खींचता है। द्वारिका की बिगड़ी हुई दारुण स्थिति का कारण वह प्रद्युम्न और वेनुरती पर लगाता है - इतने समय के अपने बन्दी क्षणों में मैं ने एक लंबी गहन छाया देखी है, जिसके एक सिरे पर तुम खड़े हो और दूसरे सिरे पर विलाप करती हुई तुम्हारी वेनुरती बैठी है।[1] यहीं उसे आत्म-बोध होता है। वह राजनीति की व्यभिचारी मुद्राएँ पहचान लेता है। भाषा का बदला हुआ आचरण और व्याकरण वह पकड़ लेता है। व्यासपुत्र, जो समकालीन इतिहास बोध है, की दायित्वहीनता पर प्रखर प्रहार करता है। उसे राज मुकुट की चिन्ता नहीं होती। इसलिए उसे देने के लिए प्रद्युम्न को खोज करता है। वह एक नया सूर्य पा लेता है, वह है नया अर्जुन, जिसने पुराने गाण्डीव की अक्षमता स्वीकार कर उसे छोड़ दिया है और गीता के शाश्वत सत्य की अपेक्षा अपने व्यक्ति सत्य की खोज की है। साम्ब के विरोध की यह मुद्रा न केवल मित्रात्मक रचनात्मक ही है, प्रत्युत सर्वथा एक आधुनिक धरातल की भी है।[2]

आधुनिक शासन तंत्र में सामान्य जन का महत्व है। लेकिन उसका कोई सार्थक अस्तित्व नहीं। चुने हुए हाथ से ही उसका बहिष्कार होता है। यदि वह अपना हक माँगे तो उससे ही मूल्य वसूल कर मूल्य चुकाता है। इस परिवेश में वह सर्वाधिक विघटित होता है। वह सर्वदा अविश्वसनीय और अवसरवादी बन जाता है। "सूर्यमुख" की जरा की भी यही स्थिति है। वह अनजाने में ही कृष्ण घातक बन गया है। लेकिन उसे निरन्तर उस अपराध की यातना भोगनी पड़ती है। फलस्वरूप वह एक व्यावसायिक अपराध भूमिका में बने रहने की विवशता में आ जाता है। वह वन्य पशु बन जाना चाहता है - "मुझे जाने दो इन भेड़ियों के जंगल में। मैं ने अनजाने में ही कृष्ण के पैर में बाण मारा था। मैं तब हिंसक नहीं था, पर

---

1. "सूर्यमुख" - पृ:49-50
2. डॉ.चन्द्रशेखर "हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंग यात्रा" - पृ:76

द्वारिका में ले आकर इन पशुओं ने मुझे अनुभूति दी है कि मैं मनुष्य नहीं, जरा हूँ, केवल जरा। मैं अपने इस व्यक्तित्व को अब इस जंगल में चरितार्थ करूँगा और मृत्यु की इस प्रक्रिया को यहाँ बनाये रखूँगा।[1]

इस नाटक का दुर्गपाल कर्तव्य और दायित्व बोध का प्रतीक है। दायित्वहीनता में डूबी द्वारिका में वही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो पूर्ण निष्ठा से कर्तव्य और दायित्व में खड़ा रहता है। उसके चरित्र की विशिष्ठता से भली-भांति अवगत होते ही अर्जुन को कुछ कहता है, वह बिलकुल ठीक है - "द्वारिका में सब अपने अधिकार के लिए उन्मत्त हैं। अपने कर्तव्य और दायित्व में केवल तुम्हें पाया है।[2] वह मृत्यु के संत्रास में भी स्वयं को ऐसा अर्थ देने का प्रयास करता है। वह वर्तमान को प्रणाम करता है तो भी भविष्य को छोड़ता नहीं। वह साम्ब से कहता है - "कृष्ण अब अतीत हैं। वर्तमान अब तुम हो। और वह प्रद्युम्न भविष्य है। वह नया है। सूर्यमुख है वह।[3] वह द्वारिका के नवजात शिशु को वहाँ के दूषित वातावरण से दूर रखकर उसे नव संस्कार देने के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है।[4] क्योंकि वह द्वारिका का नव निर्माण चाहता है - "वह शिशु नये संस्कार में पलकर एक पुरुष होगा, फिर अपनी द्वारिका में लौटकर वह इसका नव निर्माण करेगा। उससे एक नई जाति इस धरती पर उगेगी, जिससे यह महाकाल पराजित होगा।"[5] द्वारिका को मंगलमय भविष्य का आकांक्षी है वह। इस प्रकार डॉ.लाल ने "सूर्यमुख" में माँ-पुत्र के प्रणय संबंध के प्रश्न को उठाकर अपनी जागरूक प्रयोगशीलता का परिचय दिया है, वही अतीत को वर्तमान से जोड़कर समकालीन राजनीतिक परिवेश का चित्रण भी किया है।

****

---

1. सूर्यमुख - पृ:29-30
2. वही - पृ:65-66
3. वही - पृ:13
4. वही - पृ:87
5. वही - पृ:87-88

मूल्यहीनता पर एक प्रश्न चिह्न -

"अंधायुग"

नयी संवेदना को रूपायित करने के लिए रचनाकार नये-नये शिल्प अपनाते हैं। इस दिशा में डॉ. धर्मवीर भारती की देन प्रशंसनीय है। पौराणिक कथा में वर्तमान की विघटित दिशा का समावेश करके कवि अतीत एवं वर्तमान में संगति स्थापित करना चाहते हैं। "अंधायुग" में पौराणिक घटना तथा कथापात्रों के होते हुए भी नये वातावरण में उनकी सृष्टि की अर्थव्याप्ति अधिक है।

अंधायुग में भारती ने महाभारत की कथा को आधार बनाकर आधुनिक बोध को वाणी दी है। इसका घटनाकाल महाभारत युद्ध के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास क्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु के समय तक फैला हुआ है। कवि ने कुरुक्षेत्र के माध्यम से युद्धोपरान्त समाज में व्याप्त निराशा, अकेलापन, पराजय, स्वार्थता, बर्बरता, प्रतिशोध आदि का अंकन किया है। सुरेश गौतम का मंतव्य इसका स्पष्ट उदाहरण है - "कवि ने इस कृति में महाभारत युद्ध के आधार पर आज के विसंगतिपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि में समाज एवं मानव मन में व्याप्त युद्धोत्तरकालीन पस्ती, कुण्ठा, पराजय, प्रतिशोध, निराशा, रक्तपात, ध्वंस, कुरूपता, विकृति, अधःपतन, कुण्ठाजनित बर्बरता, विवेकशून्यता, त्रास, द्वन्द्व, भयानक, टूटन-विघटन, ह्रासोन्मुख मनोवृत्ति, विघटित होते हुए मानव मूल्यों की अस्तव्यस्तता, खंडित परंपरा, जीर्ण होती हुई मानव आत्मा की शोषित भावनाएँ तथा भौतिक द्वन्द्वों के परिप्रेक्ष्य में नयी भावात्मक अनुभूतियों का सफल एवं सशक्त अंकन किया है।"[1]

महाभारत युद्ध अंधों का युद्ध था। इस युद्ध में दोनों पक्षों ने मर्यादा को तोड़कर अपनी स्वार्थपूर्ति करनी चाही थी। दोनों पक्षों में विवेक लुप्त हो गया था और अंधता की विजय हुई थी। इसकी अभिव्यंजना कवि ने प्रहरियों के माध्यम से की है -

---

1. सुरेश गौतम "अंधायुग: एक सृजनात्मक उपलब्धि" पृ: 29

"हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया,
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी मर्यादा।
हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा,
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई गहन आस्था।
हमने नहीं झेला शोक
जाना नहीं कोई दर्द
सूने गलियारे-सा सूना यह जीवन भी बीत गया
क्योंकि हम दास थे
केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अंधे राजा की
नहीं था हमारा कोई अपना खुद का मन,
कोई अपना निर्णय।"[1]

इनके वार्तालाप से आधुनिक समाज में साधारण व्यक्ति के जीवन की निरर्थकता साफ मालूम होती है।

कथावस्तु की घटनाएँ किसी न किसी रूप में आधुनिक जीवन मूल्यों तथा मान्यताओं को अभिव्यक्त करती है। युद्धोत्तर स्थितियाँ तथा घटनाएँ जैसी महाभारत युद्ध के बाद थीं वैसे ही आज भी हैं। विगत दोनों महायुद्धों ने मानव जीवन को परिवर्तित और विकृत किया है। द्वितीय महायुद्ध से "मानव जाति के स्वर्णिम विहान और मानव संस्कृति के प्रति उसकी आस्था को ज़बरदस्त आघात पहुँचा और मानव जाति की नियति के संबंध में चिंतित हो उठी। उसमें संत्रास, कुंठा, भग्नाशा, नैराश्य आदि की भावना उत्पन्न हो गयी।[2] उसकी अभिव्यक्ति महाभारत युद्ध से जोड़कर की गयी है। अंधा संशय, लज्जाजनक पराजय आदि उस युग की भाँति आज भी नज़र आती है। युद्धोत्तरकालीन इस विगलित कथा का युधिष्ठिर प्रतिनिधित्व करता है। "वह भविष्य के अंधियारे में निर्निमेष भावी अमंगल युग को देखकर चिंतित और उद्विग्न हैं।"[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि "अंधायुग" न केवल

---

1. धर्मवीर भारती "अंधायुग" - पृ:28-29
2. डॉ. लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय "द्वितीय महायुद्धोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास" पृ:9
3. डॉ. रघुवंश "भारती का काव्य" - पृ:37

महाभारतकालीन कथा है, अपितु आधुनिक जीवन की विकृत विगलित व्यथा की कथा भी है। ब्रह्मास्त्र का सार्थक और स्पष्ट प्रतीक है। आज के अणुबम के प्रयोग से भिन्न नहीं है अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र प्रयोग। इसके प्रयोग से आगे आनेवाली अनेक सदियों तक पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी, विकलांग शिशु पैदा होंगे, सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगा। मनुष्य ने जो कुछ संचित किया है, वह सदा के लिए विलीन होगा, धन-धान्य नष्ट हो जायगा, नदियों में पिघली आग बह जायेगी।[1] लगता है शायद इस विनाश से बचने के लिए कवि स्वयं व्यास की वाणी के माध्यम से आज के सत्ता-लोलुप, रक्त-पिपासु राजनीतिज्ञों को उनकी युद्ध लिप्सा के भयानक परिणाम की चेतावनी देता है। कवि ने प्रहरियों के वार्तालाप के द्वारा फिर निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को उठाया है -

"युद्ध हो या शान्ति हो
रक्तपात होता है
अस्त्र रहेंगे तो
उपयोग में आयेंगे ही।"[2]

भारती ने "अंधायुग" में जिस आधुनिक बोध को वाणी दी है वह चरित्रों के विश्लेषण के द्वारा ही अधिक व्यक्त होता है। यद्यपि अधिकांश पात्र प्रख्यात हैं तो भी उनके व्यक्तित्व विश्लेषण तथा मानसिक संतुलन को प्रस्तुत करने पर आधुनिक भाव-बोध व्यक्त होता है।

अंधायुग का केन्द्रीय पात्र है अश्वत्थामा। भारती अश्वत्थामा के चरित्र-विश्लेषण के द्वारा यह दिखा देने में सफल हुआ है कि मूल्य विघटन की परिस्थिति में मानव विक्षुब्ध होता है, विद्रोह करने को उद्यत हो जाता है, प्रतिशोध के लिए भटकता है। अश्वत्थामा आधुनिक मानव का प्रतीक है। अपने पिता की हत्या उसके मन में प्रतिशोध भर देती है। दुर्योधन का अधर्म से वध, सत्यवादी युधिष्ठिर का अर्धसत्य उसे मर्यादावादी बनने से वंचित कर देते हैं। वह एकदम क्रूर, नृशंस एवं हृदयहीन

---

1. "अंधायुग" - पृ:94-95
2. वही - पृ:112

बन जाता है। पाशविक वृत्तियों के चंगुल में फंसकर "वध केवल वध" को अपनी जीवन ग्रंथी मानता है। वह सत्यवक्ता संजय को मारने के लिए उद्यत हो जाता है, वृद्ध याचक का गला घोंटता है, कुंजर की भांति पांडव पुत्रों को कुचल देता है, अपने ही मित्र कृतवर्मा का वध करने को तैयार हो जाता है तथा उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र फेंकता है। प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध से वशीभूत होकर मर्यादा, सदाचार, विवेक आदि सब भूल जाता है। यही स्थिति आज के मनुष्य की भी है। सारा समाज अधर्म और पाप का गुलाम बन गया है। वर्तमान परिवेश से पीड़ित मानव पीड़ा, क्षोभ एवं निराशा के क्षणों में अपने को भी खो बैठता है, वह पशुता की ओर बढ़ जाता है। धर्मवीर भारती का कथन अश्वत्थामा की बर्बरता का पर्याय है - अश्वत्थामा घृणा का एक जीवन्त ज्वालामुखी है, पिघला हुआ लावा और अंगारे और धधकती चट्टानें जिसके अवचेतन में उबल रही हैं और उसका एक-एक शब्द पिघलती हुई आग की तरह हमें दहकाता रहता है।[1] इससे स्पष्ट है कि आधुनिक मानव का पीड़ित प्रतिशोधी व्यक्तित्ववालों का अश्वत्थामा सच्चा प्रतिनिधि है।

गाँधारी का जो चित्र "अंधायुग" में आया है वह एक साधारण स्त्री के आन्तरिक ताप को व्यक्त करनेवाला है। महाभारत युद्ध में गाँधारी के सभी पुत्र मारे गये। अपने प्रिय पुत्र दुर्योधन के क्षत-विक्षत अस्थिपंजर को देखकर उसका मातृत्व कराह उठता है -

"अस्थिशेष?
तो क्या वह पड़ा है
कंकाल मेरे पुत्र का।"[2]

पुत्र वियोग से जर्जर गाँधारी कौरव कुल के विनाश तथा युद्ध के दुष्परिणामों के कारण का अपराध कृष्ण पर लादती है और उन्हें शाप भी देती है। कृष्ण इस शाप को अपनाते हैं और गाँधारी को सांत्वना देते हैं। उसका हृदय शान्त हो जाता है और यह कहती हुई कि "यह क्या किया तुमने", अपने किये हुए काम पर पश्चाताप करती है। यह स्थिति आधुनिक समाज की एक साधारण माँ की जैसी है, जो पुत्र-वियोग

---

1. धर्मवीर भारती: आधार "भारतीय रंगमंच विशेषांक" - ~~आधार~~ संपादक: रामावतार चेतन पृ: 65
2. "अंधायुग" - पृ: 10।

में अपना संतुलन खो बैठती है तथा अपने मन की शान्ति के लिए उन्हें डाँटती - फटकारती है, जिनके कारण उसकी यह दुर्गति हुई है। गाँधारी में उन सभी अनुभूतियों के धरातल हैं - यथा निराशा, कटुता, वेदना, प्रतिरोध, घृणा आदि जो एक सामान्य मानव में आज भी मिलते हैं। अतएव भारती ने "अंधायुग" की प्रतिष्ठा में गाँधारी को एक मानवी के रूप में अंकित करके नारी की प्रवृत्यात्मक प्रस्तुति करायी है।[1]

केवल कौरव पक्ष की विजय ही गाँधारी चाहती है। वह पहले ही यह जानती थी कि जिस पक्ष में सत्य है उसी की जीत होगी। लेकिन दोनों पक्ष मर्यादा खो बैठे हैं - पांडव ने कुछ कम, कौरव ने कुछ ज़्यादा। युयुत्सु जिसने सत्य को कौरवों से अधिक स्थान दिया, युद्धभूमि से बचकर आया अकेला कौरव-पुत्र है। उसके प्रति गाँधारी की कटूक्तियों में निहित व्यंग्य हृदय विदारक है। व्यंग्य की तीव्रता को सुरक्षित रखने के लिए ही शायद कवि ने पाठकों से यह छिपाया कि युयुत्सु गाँधारी का वास्तविक पुत्र न होकर धृतराष्ट्र का और किसी स्त्री से जन्मा पुत्र था। गाँधारी के क्रूर व्यंग्य से वह मर्माहत हो जाता है। उसका आन्तरिक बल नष्ट हो जाता है -

"अब यह माँ की कटुता
घृणा प्रजाओं की
क्या मुझको अन्दर से बल देगी?"[2]

उसका मानसिक द्वन्द्व उसे आत्महत्या के क्रोड़ में पहुँचाता है। उसकी आत्मग्लानि आधुनिक विसंगतिपूर्ण समाज की आत्मग्लानि है।

"अंधायुग" में कृष्ण एक नयी दृष्टि से परखा गया है। जो कृष्ण आज तक परब्रह्म के रूप में चित्रित होते आये हैं तथा जिन्हें मर्यादित तथा सत्य के वक्ता के रूप में चित्रित किया जाता रहा है, ऐसे कृष्ण को "अंधायुग" में एक नया रूप दिया गया है। "अंधायुग" का कृष्ण आज के संशयग्रस्त मानव का प्रतिनिधि है। वह केवल परब्रह्म तथा सत्यवक्ता नहीं, अपितु एक आधुनिक जटिल मानव भी है।

---

1. भाषा - त्रैमासिक, सितंबर 1984, पृ:48
2. अंधायुग - पृ:59

अंधायुग का कृष्ण केवल प्रभु अथवा परब्रह्म ही नहीं, बल्कि देवत्व एवं मानवत्व की संधिरेखा पर खड़ा वह आधुनिक जटिल मानव भी है जो परिस्थितियों से प्रेरित होकर सत्य की रक्षा करते हैं तो सत्य का त्याग भी, मर्यादा का वहन करते हैं तो मर्यादा का ग्रहण भी।[1]

गाँधारी कृष्ण को अधर्मी तथा छली मानती है तो बलराम "मर्यादाहीन कूट बुद्धि" मानता है। युयुत्सु की आँखों में वह वंचक, कायर, शक्तिहीन है, जो सभी का संरक्षक होते हुए भी उसे न बचाकर अपने लोक चला गया। नियति का संचालक होने पर भी उन्हें पुत्र शोक से जर्जर गाँधारी का शाप स्वीकार कर एक साधारण व्याध के हाथों मरना पड़ा। कृष्ण को मानवतावादी धरातल पर प्रतिष्ठित करना नाटककार के आधुनिक युगबोध का परिचायक है। कृष्ण समस्त मानवता और कवि की अजेय अटूट आस्था का प्रतीक है।[2]

धृतराष्ट्र अंधेयुग का अंधा राजा है। उसकी ममता अविवेक से लिपटी हुई है। वह बीसवीं शताब्दि की युद्धोत्तर पतनोन्मुखी संस्कृति तथा राजनीतिक दृष्टि से नेतृत्ववर्ग की अन्धता या अविवेक का प्रतीक है।[3] वह अपने स्वार्थ के कारण अन्धा बन गया है, अपना विवेक खो बैठा है। महाभारत युग का शासन सत्तान्ध व्यक्तियों द्वारा चलाया जा रहा था, जो विवेक और मर्यादा को देख नहीं पा रहे थे। "महाभारत" का धृतराष्ट्र भीतर से पांडव-विरोधी है तो भी अपने पुत्रों की मृत्यु के बाद पांडवों को पुत्रवत् स्वीकार करता है। लेकिन "अंधायुग" में वह एक स्वार्थी राजनीतिज्ञ बन जाता है। वह युयुत्सु से अपना विचार व्यक्त करता है कि अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र यदि उत्तरा के गर्भ पर गिरेगा तो पांडवों का कुल खतम हो जायेगा तब एक दिन युधिष्ठिर अपना राजपाट उसे दे देगा। धृतराष्ट्र के विचारों से भारती ने आज के शासकों की स्वार्थता तथा अधिकार लिप्सा ही व्यक्त की है। भीम और दुर्योधन भी कुटिल नीतियों को अपनाने के कारण कौरव और पांडवों के बीच स्वार्थी व्यक्तित्ववाले बन गये हैं।

---

1. सुरेश गौतम "अंधायुग: एक सृजनात्मक उपलब्धि" - पृ:32
2. जयदेव तनेजा समसामयिक हिंदी नाटकों में चरित्र सृष्टि - पृ:97
3. रमेश गौतम - समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ:94

कुरुक्षेत्र युद्ध की विभीषिका को अभिव्यक्त करके आधुनिक जीवन के विषाद और विसंगति को अभिव्यक्त करना ही कवि का मूल उद्देश्य है। "अंधा-युग" में महाभारत काल की पृष्ठभूमि लेकर युद्ध से उत्पन्न विकृतियों, विसंगति, छलना, संत्रास, घुटन, अंधेपन को द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न आधुनिक यंत्रणा से जोड़ा गया है।[1]

स्वार्थी व्यक्तित्व के कारण महाभारत युग में जो अंधता व्याप्त थी वैसी ही अंधता आधुनिक युग में भी दिखाई दे रही है। भारती देश में व्याप्त अंधेपन के बादल को भेद कर प्रकाश की किरणों फैलाने की आशा करता है, साथ ही नये युग के आविर्भाव की भी। उनका दावा है कि उन्होंने गरजते महासागर की चुनौती को स्वीकार करते हुए पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझते हुए अनमानी गहराइयों में उतर जाने का और फिर अपने को खतरे में डालकर प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ क्षणों को बटोरकर, बचाकर धरातल पर ले जाने का परिश्रम इस कृति के माध्यम से किया है।[2] आधुनिक जीवन की जटिलताओं को पौराणिक कथा के माध्यम से प्रस्तुत करने का जो प्रयास भारती ने किया है, उसमें वे पूर्ण रूप से सफल हो गये हैं। देवेन्द्र इस्सर के अनुसार "भयाक्रान्त और निराशापूर्ण वातावरण में टूटे हुए लोगों के बीच सत्य, अर्धसत्य औरअसत्य के संघर्ष में लेखक ने पात्रों के अन्तःकरण में गहरे पैठकर मनुष्य की आदिम युगीन प्रवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों के बीच के तनाव को न केवल पहचानने की कोशिश की है, बल्कि आस्था अनास्था के बीच जूझते हुए मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व की चुनौती को भी एक प्रबुद्ध एवं संवेदनशील रचनाकार की दृष्टि से स्वीकार किया है।[3]

****

---

1. गिरीश रस्तोगी "समकालीन हिन्दी नाटककार" - पृ:14
2. "अंधायुग" - भूमिका - पृ:3
3. देवेन्द्र इस्सर 'साहित्य और आधुनिक युग बोध' - पृ:163

अध्याय - 5

पुराण पर आधारित नाटक

अध्याय - 5

"जनहंता राजनीति -

"पहला राजा"

समकालीन हिन्दी नाटक में सामाजिक चेतनाबोध एवं यथा-स्थितिवाद के विरोध का स्तर बड़े तीखेपन से उभर कर आया है। सामाजिक चिंता के लिए लेखक में अपने समय, संदर्भों का परिज्ञान और निरंतर उनसे जुड़कर चलते रहने की इच्छा और कोशिश ज़रूर होती है। सामाजिक, राजनीतिक विवेक से अनुशासित लेखक ही अपने समय, संदर्भों को ढंग से पहचान सकता है।[1] प्रयोग धर्मी नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर भी ऐसा एक लेखक है। उनके निजी अनुभवों का ताप भी उनकी प्रभाव क्षमता का कारण बनता है। एक अफसर साहित्यकार (आई.सी.एस) होने के नाते सरकारी नौकरी में रहते हुए मौजूदा व्यवस्था की समूची विसंगतियों को देखने-परखने और पहचानने का खूब अवसर मिला। मौजूदा व्यवस्था की असलियत की सही जानकारी और समझ का नतीजा है प्रस्तुत नाटक "पहला राजा"। वर्तमान की वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए वे अतीत की ओर मुड़े। माथुर के अनुसार - "मुख्य पात्र और प्रसंग मैं ने वैदिक और पौराणिक साहित्य से लिये हैं, लेकिन इसलिए ही यह नाटक पौराणिक नहीं कहा जा सकता। पृष्ठभूमि के कुछ अंश और कुछ सूत्र मोहनजदाड़ो - हड़प्पा सभ्यता की खुदाइयों से संबद्ध हैं। पर इसी से यह नाटक ऐतिहासिक नहीं हो जाता। कुछ संवाद वर्तमान बोलचाल की भाषा में हैं, गीतों पर लोक शैली की छाप है। पर केवल इसीलिए नाटक को यथार्थवादी रचना नहीं ठहराया जा सकता।"[2]

नाटककार हमें ब्रह्मावर्त की उस धरती पर ले जाते हैं जहाँ चार हज़ार वर्ष पूर्व शासक और शासित दोनों के बीच में संघर्ष उठ खड़े हुए थे।

---

1. मधुरेश - "सिलसिला" - पृ:90
2. जगदीश चन्द्र माथुर - "पहला राजा" - भूमिका

इस धरती में हमारा परिचय अंग - सुनीथा के बेटे वेन से होता है। राजा अंग और उद्दण्ड पुत्र वेन दोनों के बीच में अनबन इस सीमा तक बढ़ गया कि अंग अपने देश से त्रिगर्त में चला जाता है। एक अनार्य कन्या के साथ वेन का जो अवैध संबंध था, यह भी पिता और पुत्र के अनबन का एक कारण बनता है। अंग के चले जाने के बाद देश में डाकू का आक्रमण होता है तो मुनियाँ वेन को राजा बनाता है। लेकिन उसकी उद्दण्डता और भी बढ़ जाता है। उसके अत्याचारों से नाराज़ होकर मुनि गण मंत्रभूत कुशाओं से उसकी हत्या करते हैं।

वेन की हत्या के बाद ब्रह्मावर्त में एक शासक के अभाव में डाकुओं का आक्रमण होता है, अराजकता फैल जाती है तो मुनि लोग एक उचित शासक की खोज में निकल पड़ते हैं। लेकिन उनकी खोज व्यर्थ ही सिद्ध होती है। ठीक उसी समय हिमालय के त्रिगर्त से आर्य वंशज पृथु अपने गुरु अंग के आदेश के अनुसार वेन के अवैध संतान कवष को सुनीथा के हाथों सौंपने तथा उसे ब्रह्मावर्त के शासक के रूप में नियुक्त करने के लिए ब्रह्मावर्त में पहुँचता है। रक्त की शुद्धता की दुहाई देनेवाले मुनि लोग एक अनार्य पुरुष को ब्रह्मावर्त का शासक बनाना नहीं चाहते। शुक्राचार्य अपनी कूटनीतिज्ञता से पृथु के मस्तिष्क को बुरी तरह धो डालता है और पृथु बहुत जल्दी मुनियों के बहकाव में आ जाता है। जिम्मेदारी सौंपने के लिए वहाँ आये पृथु जिम्मेदारी संभालने के लिए मज़बूर हो जाता है। तीनों मुनि उसे पहला राजा बनाने का वादा देते हैं। महत्वाकांक्षा की भावना से बुरी तरह ग्रासित पृथु अपने गुरु अंग के प्रति अपने जिगरी दोस्त कवष के प्रति तथा बाल सखी उर्वी के प्रति अपना कर्तव्य भूल जाता है। ये मुनि लोग माता सुनीथा को भी अपने जाल में चालाकी से फँसाते हैं। पृथु और कवष की सुनीथा से भेंट होने के पहले ही मुनि लोग सुनीथा के पास आकर उसे यह विश्वास दिलाते हुए वेन का शव वापस लेते हैं कि वे उसे पुनर्जीवित रखेंगे। आगे वे शवमंथन का अभिनय करते हैं और घोषित करते हैं कि दाहिनी जंघा के मंथन करने से कवष और बाईं भुजा के मंथन से पृथु उत्पन्न होता है। तीनों मुनि मिलकर कुछ शर्तों के आधार पर पृथु को पहला राजा बनाता है। वे शर्त हैं - अपने बाहुबल से ब्रह्मावर्त के आश्रमों और यज्ञशालाओं की रक्षा करें, सब प्राणियों के प्रति समभाव रखें, धर्म से

विचलित होनेवालों को उचित दण्ड दें, लेकिन वेद पाठी ब्राह्मण इससे बच रहें, धर्म से विचलित होनेवालों को परास्त कर दण्ड दें, वेद में दण्ड देने और व्यवहार का जो नित्य धर्म दिया गया है उसके अनुसार ही शासन करें, समाज को वर्ण - संकरता से बचाएँ - आदि। पहला राजा बनने के बाद तीनों मुनियों को पृथु अपने मंत्रि मण्डल का सदस्य बना लेता है। शुक्राचार्य पुरोहित मंत्री, गर्ग ज्योतिष मंत्री और अत्रि मुनि अमात्य बन जाते हैं।

कर्म की स्फूर्ति जिस पुरुष में होती है, उसमें काम की लालसा प्रबल होती है। कर्म के क्षेत्र से पृथु को विमुख कर देने के लिए गर्ग अपनी रूपवती कन्या अर्चना से उसकी शादी भी करा देता है। अपने अदम्य साहस और पराक्रम से पृथु शत्रु को भगाता है। ब्रह्मावर्त की धरती ऐश्वर्य और वैभव से भरी-पूरी हो जाती है। बिना किसी विघ्न से यज्ञ आदि चलते हैं। सारे ऐश्वर्य और वैभव से घिरे रहने के बावजूद भी पृथु के मन को कोई चैन नहीं मिलता। उसके अन्तःकरण में जो अपराध भावना थी वह उसे सताती ही रहती है। उसके विश्वास को सबसे बड़ी चोट तभी पहुँचती है जब सूत और मागध से उसे यह पता चलता है कि ब्रह्मावर्त की धरती में अकाल पड़ गया है और जनता भूख से तड़पती है। जनता की शिकायत यही थी कि राजा ने अब तक जो कुछ किया वह तो केवल मुनियों की यज्ञशालाओं के लिए ही था। वह निहत्थे ही क्रुद्ध जनता के बीच चल जाता है और समझ लेता है कि मुनियों ने जनता के लिए अभी तक कुछ भी नहीं किया है। उसका ऊबी मन कर्म का धरातल खोजने लगा।

शुक्राचार्य यह जान लेता है कि पृथु वीर है, निडर है। अतः वह जल्दी ही कर्मवीर बनकर जनता के सम्मुख खड़े होकर जनता की भलाई के लिए काम करेगा। इस प्रकार वह जनता की कृतज्ञता और उल्लास को पा सकेगा। शुक्राचार्य तो राजा को अपने हाथ का कठपुतली बनाना चाहता है। राजा को जनता के विरुद्ध मोड़ लेना आवश्यक बन पड़ता है। इसलिए वह राजा को समझाता है कि ब्रह्मावर्त में अकाल पड़ने का एकमात्र कारण वहाँ के अनार्य और उनके नेता कवष हैं। वे भूचण्डिका की पूजा करते हैं, जिसके कारण पृथ्वी की उर्वरता नष्ट हो जाती है, सरस्वती सूख जाती है और उपज कम होती जाती है। धरती पर

भूचण्डिका बैठी है। इस कारण धरती उन्मत्त हो गयी है। अतः वह अपना रस अपने ही भीतर छिपा लेती है। मुनि गण अंधविश्वासों में जकड़े रहते हैं। उनके आश्रम निवासी भी इसी अंधविश्वास में डूबकर अकर्मण्य-सा जीवन बिताते हैं।

शुक्राचार्य के हाथों भूचण्डिका की मूर्ति देखकर राजा और भी उत्तेजित हो जाता है और निषादों पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो जाता है। बीच में उर्वी से उसकी भेंट हो जाती है। उर्वी राजा को धरती की महिमा और आज उसकी ऊसर होने से देश के अकाल के बारे में समझाती है कि वह अनन्त संपदाओं का खजाना है, उसने सबकुछ अपने अन्दर छिपा रखा है। यदि परिश्रम करके उसका भली भाँति उपयोग करें तो देश का अकाल दूर हो जायेगा। यदि अकर्मण्य रहे तो धरती से कुछ भी नहीं मिलेगा। उर्वी का उपदेश सुनकर वह कर्म-पुरुष बनता है। कवष के नेतृत्व में सरस्वती की सूखी धारा में यन्त्र के द्वारा नहर खोदकर जल निकाल लेता है। वह भूमि रूपी गौ को दुहने का लोगों को विवरण देता है और अपने पुरुषार्थ से सबको जुड़ाकर उसकी अनन्त संपदा को मानव मात्र के लिए प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा लेता है। उसके कंधे पर कुदाली रखते ही पाँच सौ मज़दूरों के हाथ में कुदालियाँ ललक उठती और मिट्टी ढोने के लिए टोकरी पकड़ते ही पाँच सौ मस्तकों पर टोकरियाँ मुकुट सी सज जाती हैं।

कवष के उपदेशानुसार पृथु, दृषद्वती नदी के बीच एक बाँध का निर्माण करने लगता है जिससे कि सूखी सरस्वती को तथा उससे लगाये बने नहरों को पानी मिले। इसके लिए अनेक मज़दूरों की आवश्यकता है। पृथु शुक्राचार्य और अत्रि मुनि को अपने आश्रम के आसपास से मज़दूरों को भेजने का आदेश देता है। लेकिन वे समय पर मज़दूरों को न भेजते। परिणाम यह होता है बाँध के पूर्ण होने से पहले ही प्रचण्ड बाढ़ आती है और उस बाढ़ में कवष और सखी उर्वी सदा के-लिए बह जाते हैं।

शुक्राचार्य यह सोच रहा था कि यदि बाँध समाप्त होगा तो पृथु उसे दूध की मक्खी के समान निकाल फेंकेगा। उसके मंत्रिमण्डल में जंघापुत्र कवष और दस्यु सुन्दरी उर्वी को स्थान मिलेगा। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए जनता

की भलाई को भी वह नगण्य मानता है। अपने अस्तित्व की वाँछा उसे बाँध में ढील डालने को भी प्रेरित करती है। मुनि की शुक्रनीति से राजा असफल हो जाता है। तीनों मुनियाँ मिलकर अपनी दूर दर्शिता, चालाकी और कूटनीतिज्ञता से जो चाल चलाते हैं उसमें वे पूर्ण रूप से सफल निकलते हैं। मुनियों के सामने पृथु ने जो प्रतिज्ञायें कीं, उनमें से दो प्रतिज्ञा करते हुए पृथु अपने विश्वास के साथ धोखा दे रहा था। कवष को इस बात का बहुत दुःख होता है कि उसका मित्र पृथु मुनियों के बहकाव में आ गया है। यही नहीं उन दोनों के बीच दूरी का निर्माण भी होने लगता है। ब्रह्मावर्त की धरती पर जिस क्षण उसने कदम रखा था तब तक उसकी ज़िन्दगी का असली स्वर हिमालय का संगीत था। लेकिन वह स्वर पृथु सदा के लिए गंवा देता है। उस स्वर का ताल लय ब्रह्मावर्त में मुनियों की यज्ञ-वेदी से उठनेवाले मंत्र-जपों की आवाज़ में विलीन हो जाता है। उसकी बाल सखी उर्वी की यह आशंका - "ब्रह्मावर्त बहेलियों का जाल है दो नादान कबूतर उसमें न फँसे - सच निकलती है। अंत में हिमालय का वह ओजस्वी पुरुष मुनियों के जाल में बुरी तरह जकड जाता है। अंततः मुनियों की कूटनीति ही सफल हो जाती है। और एक बार पृथु को पहला राजा का लिबास धारण करना पड़ता है। पृथु की व्यथा उसके शब्दों में व्यक्त होती है - मैं आदि राजा पृथु, आर्यों का पहला राजा। मेरा यही स्वरूप तो सदियों बाद याद किया जायेगा, धनुष बाण से सुसज्जित देह, खड्ग की चमक से मंडित मुख शत्रुओं को दहलानेवाले घोर स्वर का विधायक, पराक्रमी विजेता दस्युओं का विनाशक, प्रजा का नायक, मुनियों का पालक पृथु । लोग कहेंगे पृथु अवतार था। अवतार। लेकिन इस मुखौटे के नीचे मेहनत के पसीने से चमकता चेहरा कौन जानेगा? किसे ध्यान होगा कि धरती को समतल बनाकर उसे दोहनेवाले हाथ कौन-से थे? पृथ्वी।

पृथु की पृथ्वी। कौन समझेगा इन शब्दों को?[1] व्यापक समष्टि-चेतना की कर्ममूलक प्रवृत्ति से लौटकर अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की ओर जिस क्षण पृथु का मन मुड़ गया, उस क्षण से लेकर वह बेचैन है। विभिन्न स्तरों पर वह संघर्ष को झेलता है। लेकिन कहीं भी वह शाश्वत समाधान ढूँढना वह चाहता है। लेकिन कहीं भी वह शाश्वत समाधान ढूँढ न सकता। अश्वमेध के बिना,

---

1. पहला राजा - पृ:97

बिना युद्धों का वह चक्रवर्ती बनना चाहता है। लेकिन वह बन न सकता। उसका सौवाँ यज्ञ - बाँध निर्माण का यज्ञ - सरस्वती की धारा से दृषद्वती से सदा के - लिए पानी मिलते रहने का, नहर के सहारे हर मौसम में खेत भरपूर रहने का, मिट्टी में नमी लाने का, हरियाली फैलाने का, धरती की उपजाऊ बढ़ाने का, ऊबड़-खाबड़ बंजर पृथ्वी को संपुष्ट बनाने का यज्ञ पूरा नहीं होता। उसकी सबसे बड़ी व्यथा यही है कि उसकी परवर्ती पीढ़ी उसको याद करेगी सिर्फ पहला राजा के रूप में, एक अवतारपुरुष के रूप में। कोई यह नहीं जानेगा कि उसने एक अश्म युग को कृषि प्रधान युग में परिवर्तित कर देने का प्रयास किया था। परवर्ती पीढ़ी सिर्फ उसे एक पराक्रमी विजेता अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित शासक दस्युओं एवं शत्रुओं को दहलानेवाला पहला राजा के रूप में ही याद करेगी। कोई नहीं जान सकेगा कि वह अपने मेहनत के पसीने से इस पृथ्वी को हरा-भरा करना चाहता था। उसने अपने कन्धों पर कुदाली भी धारण कर ली थी। सिर पर टोकरी भी रखी थी। कोई भी इस बात को याद नहीं करेगा कि पृथु ने धरती माता की गंध पहचान ली थी,, धरती की अनंत संपदा का दोहन करने का कार्य शुरू कर दिया था और इसके लिए अपने तन-मन को एक यज्ञवेदी बना दी थी और कर्म पुरुष बन गया था। ज़िन्दगी में वह जो बनना नहीं चाहता था उसे वह बनना पड़ता है। वह अनार्यों का मित्र बनना चाहता था लेकिन उसे आर्यों - मुनियों- का मित्र बनना पड़ता है। उसे रक्त की शुद्धता की दुहाई देनी पड़ती है। तीनों मुनियों को सत्ताकांक्षी व्यवस्था के हाथों खिलौना बनना पड़ता है, वैश्वानर अग्नि के चारों ओर चलना पड़ता है। इस प्रकार पृथु का व्यक्तित्व परस्पर द्वन्द्व और संघर्ष की कई परतों से गुज़रता है। पृथु की तड़पन, उसकी विवशता उसकी आत्मा की इटपटाहट ऐसे जनताभिमुखी नेता की विवशता है जिसके समाज कल्याणकारी चिंता एवं प्रयासों को होशियार किस्म के कुछ अवसरवादी लोग सफल न होने देते।

युग की राजनीति को अप्रत्यक्ष ढंग से व्यक्त करनेवाले इस नाटक में यथार्थ को झुठलाकर चलनेवाली खोखली शासन व्यवस्था का चित्रण है। नाटक पढ़ते ही लगता है कि यह वर्तमान राजनीतिक इतिहास के संदर्भ में लिखा गया है जिसे भोगा हुआ यथार्थ कहना बहुत संगत लगता है।[1] श्री. गोविन्द चातक ने लिखा

---

1. नटरंग - अंक: 13, जनवरी-मार्च 1970

है - "माथुर ने "पहला राजा" के माध्यम से स्वतंत्रता से पहले की निरंकुश शासन पद्धति, जनता के संघर्ष और उसके बाद पहले प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा किये गये नवनिर्माण और उसमें आयी बाधाओं का चित्रण किया है। वेन अंग्रेज़ी शासन का प्रतीक है जिसे मुनि रूपी नेता अपने हुंकारों-आन्दोलन- से मार डालते हैं। कवष उपेक्षित जनता के क्षुद्र वर्ग का कर्मशील प्रतिनिधि बनता है।[1] आलोचक इन्द्रनाथ मदान भी इस बात से सहमत है कि नाटक के पहले राजा को नेहरू के व्यक्तित्व के साँचे में ढाला गया है।[2]

नाटककार मनुष्य और प्रकृति के साधनों के आपसी रिश्ते का जो वर्णन करता है, वह कम महत्व का नहीं। धरती की कोख में छिपी पड़ी अनंत संपदा की खोज करके उसका सदुपयोग करने की कोशिश जब तक आदमी नहीं करता तब तक प्रगति के सारे मार्ग अवरुद्ध ही रहेंगे। इस तथ्य की व्याख्या के लिए ही नाटककार उर्वी को एक प्रतीक पात्र के रूप में प्रस्तुत करता है। पृथु को धरती का समुचित रूप से दोहन करने की प्रेरणा देनेवाली उर्वी "धरती को हथेली की तरह जानती है वह धरती उसमें नशे की तरह घुलमिल गयी है।[3] उर्वी की आवाज़ धरती की आवाज़ है, जो पुकारकर पृथु से कहती है - हाँ उठाओ यह धनुष और इसकी कोटि से उखाड़ो शिलाओं को, ऊँचे-नीचे टीलों को समतल करो, खेतों में पानी ठहरेगा, मिट्टी में नमी आयेगी, हरियाली फैलेगी बालू से रुकी हुई नदियों की धाराएँ फिर बह निकलेगी और तब सर्वकाम दुर्गा गौ की धरती माँ के स्तनों में सैकड़ों मानव संतान के लिए दूध उतरेगा।[4]

नाटककार कवष के माध्यम से समाज में वर्ण-संकरता की देन पर भी ज़ोर देता है। एक अनार्य होने के कारण कवष को ब्रह्मावर्त में मुनियों का तिरस्कार झेलना पड़ता है, अपने ज़िगरी दोस्त से ठगा जाता है। यह तिरस्कार

---

1. गोविन्द चातक "नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर" - पृ:69
2. इन्द्र नाथ मदान - "आधुनिकता और हिन्दी साहित्य" - पृ:209
3. पहला राजा - पृ:36,39
4. वही - पृ:82

और उपेक्षा उसे समाज विरोधी नहीं बनाता लेकिन वह समाज कल्याणकारी प्रयासों में ही लगा रहता है। व्यक्ति के महत्व को मापने का मापदण्ड उसकी त्वचा का रंग नहीं, बल्कि उसके कर्म की उदात्तता है। अपने मित्र को बंजर भूमि का दोहन करने की प्रेरणा देनेवाला, नहर खोदकर जल निकलने में सफल न होनेवाले "कवष की काली चमड़ी के नीचे एक शुभ्र धारा ही बहती है।[1]. डॉ. सुषम बेदी की राय में लेखक ने युगों से व्यापी वर्णसंकरता की समस्या को उठाया है।[2].

नाटककार काव्य के लिए पौराणिक प्रसंगों का आधार लेते हुए भी सारी घटनाओं पर आँखें मूँदकर विश्वास नहीं करता है। कुछ घटनाओं को बुद्धिसंगत व्याख्या के लिए उसमें कुछ हेरफेर अवश्य उपस्थित करता है।

पुराणों में शवमंथन को एक सत्य घटना के रूप में चित्रित किया है। नाटककार इसमें थोड़ा सा बुद्धिसंगत परिवर्तन लाया है। क्योंकि आज का युग वैज्ञानिक प्रगति का युग है। शवमंथन से उसका पुनर्जीवित होना या उससे किसी अन्य मनुष्य का उदय होना - इसका आज की बौद्धिक जनता विश्वास नहीं करेगी। और एक स्थान पर भी नाटककार बुद्धिसंगत परिवर्तन लाया है। भूखंडिका को मारने के लिए पृथु का उसके पीछे करने, रास्ते में उसका गौ का रूप धारण करने और पृथु से बातें करने का प्रसंग इस नाटक में राजा के स्वप्न के रूप में चित्रित किया है। आधार कथा में यह घटना एक सत्य घटना के रूप में वर्णित है। धरती का गौ का रूप धारण करना और मनुष्य से बातें करना आज बिलकुल अविश्वसनीय लगेंगे।

श्रीमद् भागवत के अनुसार जिस समय वेन की दाहिनी भुजा से पृथु उत्पन्न हुए उसी समय सभी अलंकारों से सुसज्जित उनकी रानी भी उपस्थित हुई। लेकिन "पहला राजा" में अर्चना को एक आश्रम कन्या, गर्ग मुनि की दत्तक पुत्री के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ भी बुद्धिसंगत परिवर्तन लाया है। इस प्रकार माथुरजी ने पुराण और इतिहास के विभिन्न स्रोतों से कथानक सूत्रों को ग्रहण कर

---

1. पहला राजा - पृ:27
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के संदर्भ में - पृ:115

उन्हें मौलिक कल्पना के संस्पर्श से एक नया आकार ही नहीं दिया अपितु कथानक में लिये लगभग सभी प्रमुख पौराणिक प्रसंगों की वैज्ञानिक और तर्क-सम्मत व्याख्या दी है और उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक मन के अनुरूप ही ग्रहण किया है।[1]

++++++++++++++++++++++++++++

---

1. "हिन्दी नाट्य प्रयोग के संदर्भ में" - पृ:124

यथार्थ को झुठलानेवाली शासन व्यवस्था -

"कलंकी"

सत्ता और प्रजा के बीच का संघर्ष चिर काल का संघर्ष है। आदिकाल से वर्तमान काल तक यह राज सत्ता शोषण का माध्यम रहा है, जनता के विश्वास और श्रद्धा से खेलती रही है। धर्म के सत्य और आदर्शों की आड़ में ही प्रत्येक युग में सामान्य जन पर राज सत्ता द्वारा दमन और अत्याचार हो रहा है। निरंकुश शासक अपनी राजतंत्रीय अस्थित्व-रक्षा के लिए कलंकी अवतार रूपी भावि सुख की काल्पनिक आशा दिलाकर जन-मानस में प्रलोभन और आकर्षण जगाते हैं। जनता यथार्थ से कोसों दूर भटकती है और स्वप्नजीवी बनती है। जनता अकर्मण्य बन जाती है। शासक जनता को प्रश्नहीन बनाकर उन्हें अपने अनुरूप ढाल लेता है। उन्हें अज्ञानी अंधविश्वासी और परंपरा से भयभीत बनाकर शासक अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। यों आम जनता प्रत्येक युग में प्रश्नहीन बनकर शोषकों के हाथों समर्पित होती जा रही है। जब जीवन से जुड़ने का प्रबल संकल्प जिस लेखक में है, वह आम जनता की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता। अन्तहीन शोषण की शिकार बनी आम जनता को वे मुक्ति का उपाय बता देते हैं, धर्म-परायणता के ढोंग पर उनको ठगनेवाले शोषकों से क्रान्ति करने का आह्वान देते हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का "कलंकी" इस दिशा में किया गया एक सार्थक प्रयास है।

संक्रांति कालीन नवीं-दसवीं शताब्दि की मध्यकालीन लोकचेतना नाटककार को मात्र मध्यकालीन नहीं लगी, लेकिन उस चेतना के चारों ओर आज की स्थितियाँ बिखरी हुई दिखाई पड़ी। डॉ. लाल हमें तंत्रकाल के एक कलंकी नगर की ओर ले जाते हैं जहाँ निरंकुश शासक अकुलक्षेम है और ऐसी भोली-भाली, निरक्षर, आलसी, अंधविश्वासी और परिवर्तन से भयभीत प्रजा है जिन्होंने अपना सारा अधिकार शासक को सौंप दिया था। "द्वन्द्व", "संघर्ष" ये शब्द उन जनता के लिए बिलकुल अपरिचित है। अकुलक्षेम ने अपने नगर को धैर्यता, निर्वीर्यता के पथ पर

छोड़ा, अपनी निरंकुश सत्ता को नगर में कायम रखने के लिए प्रजा के बीच में अपरिवर्तनीयता के भ्रम फैलाये। प्रजा को प्रश्नहीन बनाया। यहाँ तक कि जनता के मन में यह धारणा रूढमूल हो चुकी थी कि उस नगर में "प्रश्न करना महापाप है"।[1] उन्हें पूर्ण यकीन था कि सारी जनता उन्हीं के इशारे पर ही चलेगी। लेकिन जब उन्होंने समझा कि अपने इकलौते पुत्र हेरम्ब में पाँच वर्ष की कच्ची उम्र से लेकर प्रश्न करने की जिज्ञासा है तो वे तिलमिला उठे। लेकिन बच्चे की जिज्ञासा न देखनेवाली थी। पिता ने उसे हर तरह से डराया और दण्ड भी दिया। माँ हेरम्ब के पक्ष में थी और उसकी रक्षा के मार्ग में उसे मर जाना पड़ा। जब ग्यारह वर्ष का हो गया तो नगर में हूण सेनाओं का आक्रमण हुआ। हेरम्ब अपना छोटा सा धनुष और तीर लेकर शत्रुओं की ओर दौड़ पड़ा। पिता कभी नहीं चाहते थे कि पुत्र संघर्ष करे। उनका भय यही था कि शत्रु से लड़नेवाला पुत्र आगामी दिनों में उसकी निरंकुश सत्ता के विरुद्ध भी लड़ेगा। इसलिए अकुलक्षेम शत्रु पर टूट पड़े अपने पुत्र को पीछे से दबोच लिया। उसकी आँखों पर काली पट्टी बाँध दी गयी और एक बन्द रथ में डाल दिया गया। उसे पशुवत् बाँधकर एक अंध गह्वर में डाला। जब आँख की पट्टी खोली गयी तो हेरम्ब ने देखा कि उस अंध गह्वर में एक ओर तरह-तरह के शव पड़े हैं और उनकी सड़ती हुई पीठ पर साधक शव-साधना कर रहे थे। दूसरी ओर पंचमकार की उपासना में लोग संज्ञाशून्य पड़े थे। जगह-जगह कुंड में माँस चर्बी गुग्गुल-सिवकथ-हवन की तरह झोंके जा रहे थे। जब हेरम्ब ने कुछ पूछना चाहा, उसी क्षण उसका मुँह और दोनों हाथ बाँध दिये गये। अकुलक्षेम ने जनता को यह विश्वास दिलाया कि हेरम्ब को तंत्र विद्या का रहस्य जानने के लिए विक्रम विहार में भेजा है। नागरिकों में से किसी ने सामंत से पूछा कि विद्या का रहस्य क्या होगा? इसी एक प्रश्न के कारण वह प्रश्नकर्ता सदा के लिए नगर से गायब हो गया। हेरम्ब को पाँच वर्ष तक बन्दी बनाकर अंध गह्वर में रखा गया। एक दिन हेरम्ब ने वादा किया कि वह प्रश्न नहीं करेगा, उसे छोड़ देने की प्रार्थना की। लेकिन उसे फिर तंत्र साधना में डाल दिया और शव साधना की शिक्षा दी जाने लगी। विक्रम-विहार से हेरम्ब के सारे समाचार गुप्त रूप से अकुलक्षेम के पास पहुँचाते थे। उनके ही

---

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - "कलंकी" - पृ:9

निर्देशानुसार हेरूप के विद्रोह बोध के दमन के लिए उसे बहुत सी यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन उनका सारा प्रयास असफल निकले। वह विक्रम-विहार से भाग कर अपने नगर में लौट आया। दो नागरिकों से उसे पता मिला कि हूणों से लड़ते-लड़ते शासक ने वीर गति पायी है। अकुलक्षेम की मृत्यु के बाद उनके प्रति प्रजा के मन में आस्था और भी बढ़ गयी है। उनका पूर्ण विश्वास था कि अंत में अकुलक्षेम उनके लिए ही लड़ा। दरअसल उलटा ही घटित हुआ, जिसके संबंध में लोग बिलकुल अनभिज्ञ थे। जब हूणों ने नगर पर चढ़ाई की और नावों में आग लगा दी तो पहली बार अकुलक्षेम ने नगरवासियों से उन बर्बरों पर टूट पड़ने की आज्ञा दी लेकिन कोई भी आगे नहीं बढ़ा और कोई नहीं लड़ा। अकुलक्षेम अकेला गिर गया। नागरिकों ने अंतिम बार अकुलक्षेम को बाणों से बिन्धा हुआ और रेंग-रेंगकर गिरि शिखर पर चढ़ते हुए देखा था। हूणों से रक्षा में असमर्थ अकुलक्षेम ने दरअसल पलायन ही किया था और अस्तित्व को अमर बनाने के लिए अपने वीरतापूर्ण युद्ध और देवदारु की काल्पनिक कथा का प्रचार किया था। जनता भी इस जाल में फँस गई, उनका विश्वास था कि अकुलक्षेम ने अंतिम साँस लेते वक्त गिरि-शिखर पर देवदारु का नन्हा सा जो पौधा लगाया था वह पुण्यवृक्ष उन्हें फिर जीवन देगा। दिन-भर नागरिक उस गिरि-शिखर पर चढ़ने का प्रयत्न करते थे और सन्ध्या होते लौट आते थे। ऐसा वे नित्य करते आते थे। नागरिकों से हेरूप को इस बात का भी पता मिला कि अकुलक्षेम की मृत्यु के बाद एक महा सिद्ध अवधूत नगर में पहुँचा है जो मानवहित कलंकी अवतार की साधना कर रहा है। उसने जनता में यह विश्वास दिलाया था कि "एक सहस्र शव साधना पूरे होते ही नगर में कलंकी अवतार होगा। जैसे ही कलंकी अवतार नगर में आयेगा यह सारा देश धन-धान्य से भर जायेगा, रोग-अंधकार सब मिट जायेगा, वह धरती पर सत्य युग लायेगा।[1] दरअसल यह अवधूत और कोई नहीं था, बल्कि अकुलक्षेम का ही दूसरा रूप था जो ताड़ के गोल पंखे से अपना मुख छिपाये जनता को ठग रहा था। जब उसे पता चला कि हेरूप विक्रम-विहार से भागकर आया है तो उस विद्रोही युवक को दबाने की साजिश रचने लगा। अकुलक्षेम में इतनी असीम शक्ति थी कि हेरूप का विद्रोह भी बाहर

---

1. डॉ.लक्ष्मीनारायण लाला - "कलंकी" - पृ:10

उभर नहीं आया, वह अन्दर ही अन्दर गुप्त पड़ा रहा। अवधूत एक तांत्रिक की सहायता से हेरूप को कुछ समय के लिए अपने मनोनुकूल बनाने में सफल हो गया। हेरूप की बाल-सखी, तारा को मन ही मन अवधूत की शव-साधना से घृणा थी। जब अवधूत ने हेरूप को अपने वश में रखकर उसे नगर का पुरपति सामंत अभिषिक्त करने की तैयारियाँ की तो उसे बिलकुल खलती है, जो उसके शब्दों से स्पष्ट है - हममें जैसे ही कुछ महत और शुभ जन्म लेने लगता है कोई सहसा उसे काट देता है।[1] तारा जानती थी कि हेरूप पूर्ण रूप से निर्भीक है, उसे विश्वास है कि वह अपराजेय है। हेरूप का अभिषेक करने के लिए आनेवाले तांत्रिक ने तारा के कुमार यौवन का भार गगन तुला पर तौल कर उसे अपवित्र बताया और उसे गौ आसन में स्थिर करके उसकी पीठ पर बैठकर उसे पवित्र किया। इस कर्मकाण्ड और नाटक से उसकी आत्मा त्राहि-त्राहि कह उठी और स्वभावतः उसने कहा कि हमें अब भी उसी नदी तट पर छोड़ दो।[2] तांत्रिक तथा अवधूत के कुचक्र में पड़कर हेरूप विक्रम-विहार में लौट जाने के लिए विवश हो गया। विक्रम-विहार से हेरूप के कलंकी नगर में वापस लौटे दिन उसने नागरिकों - तीन कृषकों - से यह प्रतिज्ञा करवाई थी कि वे उसे इस नगर से बाहर नहीं जाने देंगे। अवधूत और तांत्रिक ने हेरूप से उसके पुरपति के उत्तरीय चीन लेने के बाद विक्रम-विहार वापस जाने की आज्ञा की तो हेरूप ने कृषकों को उनकी प्रतिज्ञा की याद दिलायी। लेकिन संघर्ष, द्वन्द्व से परे इन भयभीत कायर लोगों के लिए "सोचना विचारना व्यक्तिगत विषय नहीं।"[3] उनकी कायरता उनके ही शब्दों से स्पष्ट है - नहीं नहीं, हम तुम्हारी बातों में नहीं आते, तुम जाओ तुमसे हमें डर लगता है।[4] हेरूप निश्चय नहीं कर पाया कि उस नगर की जनता किस मानसिकता से गुज़र रही है - मैं जब इस नगर से गया था, तब यह नगर भयभीत था। हर वर्ष इसे रौंदती हुई एक सेना गुज़र जाती थी, और सदा यह सुनाई पड़ता था, हम संकट-काल में है। और इतने वर्षों बाद जब मैं इस नगर में लौटा तो अब यह संकट बोध भी चला गया। यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह नगर अब किस काल में है।[5]

---

1. कलंकी - पृ:23
2. वही - पृ:31
3. वही - पृ:42
4. वही - पृ:43
5. वही - पृ:43

सुषुप्तावस्था में डूबे हुए नागरिकों को जगाने में हेरम्ब पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया। फिर भी नगर से जाते-जाते उसने नागरिकों के मन में प्रश्न के कुछ बीज बोये हैं, जो आगे चलकर अंकुरित होने लगे। तारा चाहकर भी हेरम्ब को रोक न पायी, उसके पास जा न सकी, वह पूर्ण रूप से क्षत विक्षत हो गयी है। तारा को अफसोस है - वह आया था, हमने उसे नहीं पहचाना।[1] लेकिन उसने दृढसंकल्प ले लिया - वह फिर आयेगा। इस बार हम उसे पहचान लेंगे।[2] तारा की प्रेरणा से अन्य नागरिक भी उसकी प्रतीक्षा में बैठे हैं। नागरिकों को बहुत पश्चाताप है कि वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सके। गिरि-शिखर पर देव-वृक्ष का दर्शन करके लौटे कृषक भाई से तारा और अन्य नगरवासियों को पता चला कि हेरम्ब को विक्रम-विहार में प्राण-दण्ड दिया गया है। अकुलक्षेम और तांत्रिक दोनों मिलकर उसपर खिलवाड़ कर रहे थे। अवधूत का मुखौटा बल-पूर्वक हटाते ही उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अवधूत नहीं अकुलक्षेम ही हैं। इसी बीच नगर की सीमा पर एक श्वेत अश्व दौड़ आया। तारा ने सब नगरवासियों को मोह-मुक्त करती हुई आह्वान दिया कि उसकी पीठ खाली है, कोई उसे पकड़कर उसकी सूनी पीठ पर न बैठ जाय तो कोई और आकर उसे पकड़ लेगा और बैठ जायेगा। एक अंध परंपरा की अंध गह्वर से बाहर आने के आह्वान के साथ नाटक समाप्त होता है।

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर युग में लोग अपने-अपने ढंग से किसी न किसी कलंकी की प्रतीक्षा करते रहे हैं। हर शासक, नियन्ता या अधिपति को अपना पद सुरक्षित रखने के लिए जनता को ऐसे झूठे विश्वास में फँसना पड़ता है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए जनता को प्रश्नहीन बनाना उसके लिए अनिवार्य है। अकुलक्षेम भी ऐसा एक राजा था जिसके कुचक्र में पड़कर एक नगर की सारी जनता सोचने विचारने से, शंका करने से, यहाँ तक कि अनुभव करने से अपने आप से वंचित रखती है। यथार्थ से साक्षात्कार करने का अवसर भी उन्हें नहीं देता। अकुलक्षेम जैसे निरंकुश शासक में ऐसी मायावी शक्ति

---

1. कलंकी - पृ:47
2. वही - पृ:47

है, उसकी ओर हेरम्ब तर्जनी उठाता है - मनुष्य को पहले दिशाहीन करना, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर निर्वीर्य कर उन्हें शव बना देना, फिर उनकी गणना करते रहना उनके यथार्थ से उन्हें बैलों की तरह हाँककर अयाथार्थ के जंगल में डाल देना और हर क्षण संशय को संकल्प में विद्रोह को स्वीकार में बदलते जाना [1]. विद्रोह का प्रबल संकल्प लेकर विक्रम-विहार से वापस आये हेरम्ब की क्रांति की आवाज़ कितनी जल्दी फीकी पड़ जाती है, यह इस तथ्य के लिए स्पष्ट प्रमाण है कि अंततः सत्ता ही प्रबलशाली है। शक्तिशाली सत्ता से अकेले लड़ने का संकल्प लेना मूर्खता की बात है। इस प्रयास में वह पूर्णतः सफल नहीं होता। सफलता मिलने के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता है। अकेला लड़ना एक जोखिम भरा काम है। अपना प्राण हथेली में रखकर ही इस लड़ाई के लिए उसे कमर कसना पड़ता है। विद्रोही हेरम्ब को बलपूर्वक विक्रम-विहार वापस भेजना और वहाँ उसे प्राण दण्ड देना एक अकेले व्यक्ति की अकेली लड़ाई का ही अभिशाप है। हेरम्ब के संबंध में कहें तो उसका प्रयास पूर्णतः असफल नहीं निकला। उसकी मृत्यु के बाद ही सही, अकर्मण्य जनता उसके द्वारा छोड़े गये प्रश्नों का पुनः चिन्तन करने लगी और कमज़ोरियों से वे धीरे-धीरे अलगत हो गयी और अपने शोषक के सामने ज़बान चलाने का साहस बटोरने लगी। डॉ.चन्द्रशेखर ने हेरम्ब को दुर्दान्त दैत्य कुल का प्रह्लाद मानते हुए लिखा है - "हेरम्ब जनतंत्र की प्रश्नहीनता में एक जलता हुआ प्रश्न है, जो बहिष्कृत है। पुनः वह एक उद्दाम शक्ति से आता है और फिर एक बार अभिनिष्क्रमित होता है। इस बार कभी न पलटने की यात्रा में मृत्यु, वध पाता है और पूरे समकालीन परिवेश को एक तीव्र प्रश्नात्मकता से चलयित कर लेता है।[2]. हेरम्ब की विद्रोहात्मक वाणी के मर्म को जानने की क्षमता यदि नगर-वासियों में होती तो उसकी हत्या कभी संभव नहीं थी। लेकिन जनता की कायरता, आलसीपन, निष्क्रियता उन्हीं के पतन का कारण बन गये। उन प्रश्नहीन लोगों में कोई जीवन-बोध नहीं, ये चाहते भी नहीं कि कोई उनके जीवन-बोध को जगाए। ऐसे लोगों से वे डरते भी हैं। वे मान लिये हैं कि आत्मानुभव उनके वश की बात नहीं। वे कलंकी की कभी न समाप्त होनेवाली प्रतीक्षा में डूबे हुए हैं। नाटककार

---

1. कलंकी - पृ:16
2. डॉ.चन्द्रशेखर - "हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंग यात्रा" - पृष्ठ 96

दलित मूढ का, कलंकी सुखद भविष्य का तथा हेरम्ब उद्बुद्ध सजग चेतना का प्रतीका-

निःसन्देह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक समकालीन राजनीतिक परिवरण में अकर्मण्य और प्रश्नहीन बनकर बैठी हुई जनता के सामने ऐसा एक दर्पण दिखाता है जिसमें कि उसमें वे अपने प्रतिबिंब को पाकर अपने वैरूप्य और भोंडेपन को पहचान लें और अपने आप को सुधारने का प्रयास करें। कलंकी हमारी अकर्मण्यता और मुचकुंदवाली मोहनिद्रा के विरुद्ध एक आह्वान है।[1]

****

---

1. रघुवंश (सं) - कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल - पृ:240

भोगवादी कला की भर्त्सना -

"उर्वशी"

कला के प्रति अर्पण भाव बहुत ज़रूरी है। भोगवादिनी कला असली कला के आसन पर बैठने योग्य नहीं है। कला के प्रति तन-मन-धन से अर्पित व्यक्ति अपनी आँखों के सामने कला का विनाश कभी नहीं देख सकता। ऐसे आत्म समर्पित व्यक्ति कला की पवित्रता में जान बूझकर लाँछन लगाने की कोशिश करनेवालों को कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। कला के अनन्य पुजारी भरत मुनि अपनी शिष्या उर्वशी को इसी प्रेरणा से अभिशाप दे देते हैं। पौराणिक पन्नों की यह घटना अधिकांश लेखकों की दृष्टि में नहीं पड़ी है। जानकी वल्लभ शास्त्री ने प्रस्तुत नाटक में उर्वशी और पुरूरवा के प्रेम-प्रसंग को उभारने की अपेक्षा भोगवादिनी कला और अलौकिक कला, इन दोनों के बीच का आपसी संघर्ष दिखाने की कोशिश की है।

एक असुर उर्वशी को हरण कर लेता है। उसकी आर्त पुकार सुनकर पुरूरवा वहाँ पहुँचता है और अन्य सखियों को सांत्वना देकर उर्वशी को मुक्त करने का वचन देता है। राजनीतिक प्रतिशोध की प्रेरणा से एक असुर का एक अबला नारी का हरण करना पुरूरवा को बिलकुल खलता है और वह असुर के इस निर्लज्जपूर्ण व्यवहार की भर्त्सना भी करता है। -

"क्या कहूँ रम्भे, हमारी सभ्यता निर्लज्ज-
सहन करती आ रही स्थिति यह घृणिततर भी।
भोग-भूमि वसुन्धरा भी है हुई जाती।
सुर-असुर का स्वांग रचने है लगा नर भी।
हरण नारी का, यहाँ भी राजनीतिक शोध।
क्लीवता ही वीरता से ले रही प्रतिशोध।[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारी सभ्यता की स्थिति पहली की जैसी है। आज

---

1. आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री - "पाषाणी" - पृ:34

भी यह स्थिति घृणिततर होती आ रही है। आज की दुनिया भी सुर-असुरों के स्वांग रचने लगा है। आज यह प्रतिदिन की घटना हो गयी है कि प्रतिशोध के - लिए किसी न किसी को चुरा कर ले जाये। इस तरह का व्यवहार प्रतिशोध की क्लीवता ही व्यक्त करती है।

पुरूरवा के चले जाने पर उर्वशी की एक सखी चित्रलेखा अपनी शंका व्यक्त करती है कि कहीं पुरूरवा हार न जाये। यद्यपि वह निडर, तेजस्वी तथा वीर है तो भी शत्रु असुर शूर है साथ ही उतना वह क्रूर भी है। लेकिन सुकेशी इस शंका को निर्मूल बताती है क्योंकि उसकी राय में पुरूरवा बाहुबल, मनो-बल और आत्मबल का सागर है।[1] सखियों के तर्क वितर्क के बीच पुरूरवा उर्वशी को असुर के हाथों से छुड़ाकर उन्हें सौंप देता है और वहाँ से चला जाता है।

पुरूरवा चला गया, लेकिन उर्वशी उसमें अनुरक्त हो जाती है। उसका मन व्याकुल है कि पुरूरवा उसे प्रेमिका के रूप में अपनावे या नहीं। अपनी सखी की व्याकुलता देखकर अन्य सखियाँ उससे प्रेम-पत्र लिखवाकर पुरूरवा को विदूषक के हाथों भेजती है। वह प्रेम-पत्र पुरूरवा की महारानी के हाथ लग जाता है। पुरूरवा यह जान लेता है तो अत्यधिक व्याकुल हो जाता है। उसे जिज्ञासा हो जाती कि उस पत्र में क्या लिख डाला है -

"क्या कहूँ, उस पत्र में था क्या लिखा।
महादेवी को कि उसमें क्या दिखा।[2]

उर्वशी के मन की बातें जानने की व्यग्रता तथा पत्र पाकर महारानी के मन की स्थिति समझने की आकांक्षा, ये दोनों उसे चिन्तित करा देती है। रानी और प्रेयसी के बीच में पड़कर वह पिस रहा है। पुरूरवा-उर्वशी के प्रेम जनित मानसिक संघर्ष के माध्यम से नाटककार आधुनिक युग के प्रेमी-प्रेयसी के मानसिक द्वन्द्व को वाणी देता है।

---

1. पाषाणी - पृ:35
2. वही - पृ:47

पुरूरवा की याद में अनमन उर्वशी मंच पर नाचना भी नहीं चाहती। तो भी सखियाँ उसे बलपूर्वक मंच पर ले जाती है। उर्वशी के तन में नयी लालसा झुलगी है और मन में नयी कामना पनपी है। नृत्य करते-करते उसका पद-चाप ताल का उल्लंघन करती है। उसकी सारी मुद्राएँ भी अशुद्ध हो जाती हैं। भरत मुनि यह सह नहीं सके कि नाट्य कला को आत्मा सी जो उर्वशी मिली थी वह अमृत कला में गरल मिलाने के लिए क्यों तत्पर होती है। उर्वशी का मन पुरूरवा में लीन रहता है। ऋषि भरत उर्वशी के इस अनमनेपन पर क्रुद्ध होकर और उसको उपदेश देते हैं -

चरण कहाँ पड़ते हैं जाते किधर है नयन।
सावधान उर्वशी, आज तू उनमन उनमन।।[1]

पहले तो मुनि भरत उर्वशी में नृत्यकला की आत्मा पाते थे।[2] लेकिन अब नृत्य करते-करते रात होने पर उसके अन्दर से "आह" शब्द निकलता है और नृत्य करना वह भूल जाती है। मुनि का भावोद्रेह मन कह उठता है -

यह उभार सौन्दर्य-सार,
लावण्य-धार यह,
अर्पित यदि न कला को, तब श्रृंगार-भार यह।[3]

मुनि गौतम के अनुसार कला-साधना विश्व-प्रकृति की विवृति मात्र है। यदि सुन्दरता की दीप्ति के लिए काम-कला का हम स्वागत करते हैं तो उस सौन्दर्य पर अग्नि फेंक देने के समान होगा।

पुरूरवा के प्रेम में मग्न उर्वशी के लिए उसकी सखी मेनका मुनि से माँफी माँगती है। लेकिन मुनि का मन क्रोध और ग्लानि से भर जाने के कारण उर्वशी को शाप देते हैं -

कलाकार थी, अब तू नारी मात्र रहेगी।
स्वर्ग भ्रष्ट। तू क्या जाने क्या भूमि कहेगी।।[4]

---

1. पाषाणी - पृ:51
2. वही - पृ:52
3. वही - पृ:52
4. वही - पृ:53

मुनि के अनुसार कला देव को अर्पित करने के लिए है। उर्वशी तो पुरूरवा के प्रेम में पड़कर भोगवादिनी बन गयी है। पुरूरवा देव नहीं है। अतः उर्वशी कलाकार के पद से वंचित हो गयी है। नाटककार उर्वशी-पुरूरवा के प्रेम प्रसंग के माध्यम से अलौकिक कला-प्रेम तथा लौकिक द्वन्द्वात्मक प्रेम को केन्द्रित करके भोगवादिनी कला को तर्जित किया गया है।[1]

****

---

1. पाषाणी - पुरस्तुत - पृः10

कामांधता का दर्दनाक पतन -

"नहुष निपात"

मानव एक हद तक अपनी नियती का नियन्ता है। उस नियति को बनाना और बिगाड़ना भी एक हद तक उसके वश की बात है। सद्-कर्म व्यक्ति को उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है, उसका दुष्कर्म उसे अवनति की गहरी खाई में गिरा सकता है। यों मानव के उत्थान-पतन उसके कर्मों के आधार पर ही निर्भर है। ज़िन्दगी की राहें अक्सर दुर्गम होती है। उबड़-खाबड़ रास्तों से गुज़रते वक्त मन का लगाम ज़रा भी ढीला हो जाय तो उसका पतन संभव है। थोड़ी-सी असावधानी से खतरा मोल लेना पड़ता है। अपने लक्ष्य स्थान में पहुँचने के लिए दृढ संकल्प लिये एक पथिक को दुर्गम राहों की बाधाएँ रोक नहीं सकती है, उसे गुमराह नहीं बना सकती। वह पथिक अपनी धृति के बल पर सारे प्रतिबंधों को दूर कर सकता है। धृतिहीन मन बहुत जल्दी वासनाओं और कामनाओं का शिकार बन जाता है, विवेक खो बैठता है। क्षण-मात्र की ऐसी मानसिक विह्वलता के कारण पतन के गर्त पर पड़े एक व्यक्ति को उदयशंकर भट्ट ने "नहुष निपात" में प्रस्तुत किया है।

नहुष अपने सत्कर्म से, तप, यज्ञ आदि से सर्वोच्च स्थान, इन्द्र-पद प्राप्त करता है। वह इन्द्र पुरी अमरावती पहुँचता है। प्रतिहारी उसे स्वागत करता है और इन्द्रपुरी के बारे में उसे समझाता है। इन्द्रपुरी देखकर नहुष बहुत प्रसन्न हो जाता है -

> अति प्रसन्न मन मेरा प्रतिहारी सुनो,
> जैसा सुनता आया हूँ उससे अधिक।[1]

वहाँ दुःख या कामना नहीं दिखाई पड़ता। प्रतिहारी उसे स्वर्ग की विशेषताओं का विशद वर्णन करता है कि सबके लिए काम्य कामना रूपी कल्प-तरु वहाँ है।

---

1. उदयशंकर भट्ट "नहुष-निपात" - पृ:3

कोई भी अनिश्चयात्मक स्थिति में नहीं पड़ता। यहाँ पीड़ा, ताप, अभाव आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। नहुष के आगमन का समाचार सुनकर सभी देव-गण, देव-मंत्री, देव-गुरु बृहस्पति, पवन, मेघ, विद्युत, सूर्य, विधु, यम आदि उसके अभिनंदन के लिए उपस्थित होते हैं। सभी अपनी-अपनी शक्ति से उसकी सहायता करने की अपनी आशा व्यक्त करते हैं। देवलोक की यह विशेषता है कि वे स्वयं अपने-अपने अधिकारी हैं। उन्हें कोई शासन नहीं करता। लेकिन नहुष इन देव-गणों से अपनी आज्ञा के अनुसार चलने की अपनी आशा व्यक्त करता है, तो देव-मंत्री उसे चेतावनी देते हुए समझाता है -

यद्यपि "इच्छा" नहीं कहीं होती यहाँ,
स्वयं पूर्ण होती होते हो चाह के,
किंतु पाप की इच्छा करते ही नहुष,
स्वयं पतित होता है पापी स्वर्ग से।[1]

इन्द्रलोक के आसन भी यम के नियमों से ही बना है, जिसपर बैठकर सभी देख सकते हैं और सब सुखों को भोगकर सकते हैं। इन्द्रलोक ज़रा-हीन और शेशवहीन है, केवल दो ही ऋतुएँ - शरद् और वसंत - यहाँ देखने को मिलती हैं। और यहाँ सब अमर रहते हैं।[2] देवलोक में विचरण कर वहाँ की सुन्दरता का आस्वादन करते समय नहुष को नरलोक की सुधि आती है, जहाँ रहकर अपने परिश्रम से स्वर्ग लोक तक अपना नाम फैलाने का कार्य संपन्न कर सका। गुरु बृहस्पति भी उसके इस आशय से सहमत होते हुए कहते हैं -

तुमने करके यज्ञ और जप दान कर,
संजय करके पुण्य प्राप्त यह पद किया,
संस्कारों के अंकुर अब भी शेष हैं
इसलिए नरलोक कर्म लगते सुखद,
बुरा नहीं है ऐसा भी संभव नहुष।[3]

---

1. "नहुष-निपात" - पृ:9
2. वही - पृ:11
3. वही - पृ:12

वे यह भी व्यक्त करते हैं कि यद्यपि मानव अपने सत्कर्म से सब कुछ पा सकता है तो भी संसार के चक्र एक नियम में बंधा हुआ है। मनुष्य का कर्म, ज्ञान आदि सीमित हैं, लेकिन प्रकृति के विज्ञान के नियम विराट है इसलिए मानव उसके दास हैं। लेकिन नहुष गर्व-वश अपने को सर्व शक्ति-संपन्न मानता है। देव-गुरु उसके अहं छोड़ने के लिए उसे उपदेश देते हैं - गर्व शत्रु है, इसे न अपनाओ अरे।[1] गुरु का यह उपदेश जलते दीप में तेल का ही काम करता है -

हटो, ब्रह्म बनने की मुझमें कामना
उदित हुई है ब्रह्म बनूँगा मैं स्वयं,
सब प्रपंच मेरे अनुशासन में रहे,
मुझमें सृष्टि स्थिति की क्षमता जागती।
तब-जग मेरे नाचेगा संकेत पर।[2]

अपने प्रासाद में टहलते समय नहुष स्वर्गंगा में स्नान करके आयी इन्द्र-पत्नी शचि को देखता है और उसपर मोहित हो जाता है। उसकी कामान्धता सिर उठने लगती है। शचि की प्राप्ति के लिए वह उर्वशी को अपने पक्ष में लाता है। उसके कहे अनुसार वह शचि को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए प्रेम-नाटक रचता है। उसकी अभद्र, अविनीत शिष्टता पर शचि को घृणा होती है। नहुष की कामान्धता देखकर शचि कहती है, तुम्हारे जैसे अभद्र, अविनीत, अशिष्ट व्यक्ति इन्द्र-पद का अधिकारी कभी नहीं हो सकता।[3] वह अपने अधिकार-बल से शचि को पत्नी बनाना चाहता है। शचि एक शर्त पर उसका पत्नी-पद स्वीकार कर लेती है कि -

"सप्त ऋषि द्वारा वाहित यदि पालकी
आवें उसमें बैठ आप प्रासाद में।[4]

---

1. नहुष निपात - पृ:13
2. वही - पृ:14
3. वही - पृ:36
4. वही - पृ:39

वह शचि की शर्त सहर्ष स्वीकार कर लेता है। जल्दी ही पालकी तैयार हो जाता है। विवश होकर सात ऋषि उसे वहन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। नहुष का मन घोड़े जैसा चलता है। अतः उसे लगता है कि ऋषियों की गति मंद है। वह क्रोधवश उन्हें मारने लगता है। नहुष के इस आचरण से क्रुद्ध होकर ऋषि-गण पालकी गिरा देते हैं और नहुष को सर्प बन जाने का शाप दे देते हैं। शापवश नहुष सर्प बन जाता है और स्वर्ग से छूट जाता है। अंत में वह अपने अहं पर पश्चाताप करता भी है -

हाय हुआ क्या मुझसे इस पापात्म से।
सोच नहीं पाया इसका परिणाम भी।[1]

'नहुष निपात' में कामान्ध व्यक्ति की चित्तवृत्तियों का सजीव चित्रण है। नहुष उसी कामान्धता का प्रतीक है जिसको आज के जीवन में मनोविज्ञान का शास्त्रीय आधार मिल गया है।[2] मात्र वासना से वशीभूत होकर वह कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध खो बैठता है। इसे व्यक्त करने के लिए नाटककार माध्यम बनाता है पौराणिक कथ्य का, लेकिन समस्या है चिन्तन।

श्रेष्ठतम लक्ष्यों में अपने आप को लगा देनेवाले व्यक्ति का मन कभी न भूला भटकता। मर्त्य लोक में रहते वक्त नहुष की स्थिति भी ऐसी थी। इन्द्र-पद की प्राप्ति उसका एकमात्र लक्ष्य था। उस लक्ष्य के सामने नहुष अपने तन-मन की सुधी भी खो बैठता है। खुद उसके ही शब्दों में -

मर्त्य लोक में मुझे कहाँ अवकाश था,
अश्वमेध करते-करते ही मन मरा।
तन का पोषण पालन रक्षण सभी कुछ
भूल गया मैं तप-साधन में, यज्ञ में,
शासन जप, तप, यज्ञ, युद्ध ही काम थे।[3]

ज़िन्दगी में मनुष्य को कोई न कोई उच्च लक्ष्य होना चाहिए। लक्ष्यहीन व्यक्ति ज़िन्दगी में कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। लक्ष्य उदात्त नहीं है तो मन की

---

1. नहुष-निपात - पृ:45
2. वही - "आमुख"
3. वही - पृ:25

लालसाएँ अनुचित राहों पर भटकने के लिए उसे उकसायेगी। घोर तपस्या करके इन्द्र-पद प्राप्त करने के बाद नहुष के लिए कोई उदात्त लक्ष्य नहीं रह जाता है। वैभवों और सुविधाओं से भरपूर इन्द्रपुरि में स्वर्गीय सुख वह भोगता है। जो जो दृश्य वहाँ वह देखता है वह उसकी कल्पना से परे हैं।

ऐसा प्राणातीत दृश्य देखा नहीं
पुलकित है मन, प्राण ज्ञान सब उर्वशी!
रोम रोम के नेत्रों से मैं ने पाया -
स्वर्ग लोक का अमृत अमर उल्लास मद।[1]

वैभव की अधिकता मनुष्य को कर्तव्य विमुख बना देती है। मन की सुप्त वासना को जगा देती है। वर्षों मन में सोयी पड़ी काम वासना एक बार जब आँखें खोलती है तो फिर उसे सुलाना कुछ मुश्किल है। काम वासना का मोतियाबिन्द चढते ही व्यक्ति को उचित अनुचित का बोध नष्ट होता है। कामुक पुरुष कभी पगल जैसा आचरण करता है। अमरावती में इन्द्राणी के रूप - सौन्दर्य के जाल में जकडे हुए नहुष बहुत जल्दी तुच्ची कामुकता के सारे लक्षण प्रकट करता है। इन्द्राणी का अनिन्द्य सौन्दर्य जादू-सा उसमें छा जाता है -

एक खिंचाव भर गया मेरी सृष्टि में,
आँखों में बरबस आ बैठी मूर्ति वह
तन में मन में रोम-रोम में व्याप्त है
और चेतना में छाया है रूप मद
× × × × × × × × × × ×
एक स्फूर्ति की, एक दीप्ति की, अमल की,
अंतर में, प्राणों में रह रह हो रही।[2]

इन्द्राणी की सुषमा उसके हृदय को, प्राण को खौलाता ही रहती है। नहुष समझता है कि उसका मन उसके वश में नहीं है -

---

1. नहुष निपात - 22
2. वही - पृ: 23

चरम विषम ज्वाला ... दग्ध मन,
और दग्ध तन, दग्ध हुआ है सभी कुछ,
कैसे हो यह शांत प्राण की आगे जो -
निर्मम क्षण क्षण बड़वा सी मन में जली।[1]

तप से कृश और विकृत अपने शरीर को सजाने और संवारने के प्रयास में वह आगे लगा रहता है। देवेन्द्र के समान अपने आप को मोहक बनाकर इन्द्राणी को अपनी ओर खींच लेना चाहती है। विरह की ऐसी गाढ दशा में वह पहुँचता है कि विदूषक का वेष पहनकर, मदिरा का पात्र लेकर पीते-पीते इधर-उधर घूमता है, कभी रोता है और कभी हँसता है। अपनापन भूले हुए महाराज नहुष का सही परिचय तांबूलवाहिनी के शब्दों में मिलता है -

वेश देखकर हँसते-हँसते दुःख उठा -
पेट हमारा काजन आँखों तक पुता
कपड़े बेतरतीब शाटिका गले में,
उत्तरीय धोती सा घुटनों तक चढ़ा
माला उल्टी, अंगद हाथों में बाँधा
कंकण भुज में, हार कर धनी रत्न का
बाल मुकुट में उलझे हैं, सब अटपटा।[2]

उसकी कामुकता उसे एक ऐसी स्थिति में पटका देती है कि इन्द्राणी के बिना जीना वह दूभर महसूस करता है -

नहीं नहीं मैं चुप रह सकता हूँ नहीं।
अबल रहा है तन मन अबूझ हुताग्नि सा
मैं रह सकता नहीं तुम्हारे बिन सखी!
जलती है दावा मन के बन धाँय धूँ।[3]

---

1. नहुष निपात - पृ:24
2. वही - पृ:29-30
3. वही - पृ:34

कामुकता के साथ-साथ उसका अहं भी पराकाष्ठा को पहुँचता है। "मैं सभी का अधिप हूँ" - यह चिन्ता उसके नस-नस में फैली हुई है -

मैं हूँ इन्द्र नियम भी मेरे चलेंगे
मेरी इच्छा के वशवर्ती हैं सभी
जो चाहूँगा नियम बनाऊँगा सुनो
तुम हो कोई नहीं नियम मैं हूँ स्वयं
फिर भी देवी इन्द्राणी से प्रार्थना -
करता हूँ वे मुझे चुने माने स्वपति।[1]

शचि की शर्त को स्वीकार करते समय वह एक क्षण के लिए भी उसके औचित्य के संबंध में नहीं सोचता। शचि की प्राप्ति ही उसके जीवन का सर्वनाश बन जाता है। कामान्ध होकर अभद्र, अविनीत और अशिष्ट आचरण करनेवाले किसी भी पुरुष के जीवन का ऐसा ही दर्दनाक परिणाम होता है।

****

---

1. नहुष-निपात - पृ:38

भोग पर योग की विजय -

"मदन दहन"

शिव अति प्राचीन काल से भारतीय जनता के लिए विभिन्न भावनाओं और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के मूल स्रोत रहे। उनके रूप, वेष और स्वभाव में मानव के लिए विभिन्न प्रेरणाएँ सन्निहित हैं। परहित के लिए वे नीलकंठ बने और गंगा के अनियंत्रित प्रवाह को उन्होंने अपनी जटा में धारण किया। अतः यह समझना भ्रम होगा कि शिव काल की सीमा धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश से आगे न बढ़ सकी है। वे शक्ति सामर्थ्य बलिदान की भावना और मृत्युंजयी साहस प्रदान करते हैं। शिव सृष्टि के सर्जक, संहारक तथा संरक्षक तीनों रूपों के आख्याता हैं। जानकी वल्लभ शास्त्री अपने गीति-नाट्य "मदन-दहन" में शिव के संहारात्मक रूप को मदन दहन के प्रसंग के द्वारा शब्द बद्ध करते हैं।

काम दहन की पौराणिक कथा पर आधारित गीति नाट्य है "मदन दहन"। इस गीति नाट्य का मदन भोग का प्रतीक है और शिव योग का।

सती विरह से दग्ध शिव वर्षों से तपस्या निरत हैं। देवासुर संग्राम में असुर विजयी होता है तो देव भयभीत होकर शिव के पास आते हैं। क्योंकि शिव-पुत्र से ही असुरों का नाश संभव हो सकता है। शिव को तपस्या करते देखकर ब्रह्मा, देवराज तथा देवऋषि उदास हो जाते हैं। असुरों से रक्षा करने के लिए वे शंकर की आराधना करते हैं। लेकिन उनकी स्वार्थमयी प्रार्थना का स्वेच्छा से योगी शिव पर कोई असर नहीं पड़ता।

इसी समय उन्हें कामदेव की सुध आती है। शिव के तपस्या-भंग का दायित्व वे उसपर सौंपते हैं। लेकिन पहले मदन देवों के इस अनुरोध का इनकार करता है क्योंकि शिव के क्रोध से वह परिचित है।

देवदारु के नीचे ध्यान-मग्न बैठी उमा संकल्प-विकल्पों में लीन है। वह अपनी माँ की बात को भी अनसुनी कर शिव की चिन्ता में मग्न रहती

है। वह माँ की बात को अपने मन में रटती रहती है और स्वयं अपने मन का विश्लेषण करती है -

तप सुलभ नहीं मेरी काया,
शिव ने सुन्दरता जो न वरी,
आलोकहीन दूँगी छाया!
शिव की अनचाही सुन्दरता,
किसलिए जिए इस ठौर भला!
मैं योग अग्नि की जली, मुझे
ओ री वियोग की वह्नि जला।!

यहाँ उमा का आन्तरिक संघर्ष एक साधारण प्रेमिका का जैसा है, जब वह जान लेती है कि उसका प्रेम असफल हो गया है। अपने प्रेम का असर प्रेमी पर न पड़ता है तो प्रेमिका निराशा में डूब जाती है। उमा भी अपने असफल प्रेम पर निराश होकर बैठी है -

मैं निखर पर हूँ खड़ी,
ऊपर गगन असहाय,
और ऊपर जा सकूँ
इसका न शेष उपाय!
और नीचे ?
अतल, ओझल, दूर पारावार!
चाहती समतल,
उसे पाना विषम व्यापार!2.

वह अपने प्रेमी को अतल पारावार से समतल तक लाना चाहती है।

शिव का ध्यान न पड़ने के कारण खिन्न मन से बैठी उमा से मदन की भेंट होती है। इसी बीच वसन्त भी वहाँ पहुँचता है। मदन तथा वसन्त

---

1. तमसा - पृ:18
2. वही - पृ:10

दोनों अपना परिचय देते हैं। उमा भी अपनी विवशता प्रकट करती है। उमा की विवशता सुनकर वसन्त उसे समझाता है -

ऊर्ध्व शिखर से मन फिसला
फँस गया कर्दमित भोग में।[1]

उमा की सखियाँ मदन तथा वसन्त से प्रार्थना करती हैं कि यदि उमा का उपहार ही करना चाहते हो तो ऐसा उपाय करो जिससे उमा शिव की प्यारी हो जाय। लेकिन दोनों शिव की योग निद्रा को भंग करने से डरते हैं तो रति उनके पुरुषत्व पर खिल्ली उड़ाती है। वह समझती है कि तुम जिसे योग कहते हो, वह अस्ल में विलास है। यह अपने से अपने का मिलन है। यह सुनकर उमा क्रुद्ध हो जाती है। रति उसे समझाती है कि "मैं भी नारी हूँ और नारी की पीड़ा को समझती हूँ।" अंत में रति की चुनौती को स्वीकार कर लेता है वसंत से मिलकर शिव की तपस्या को भंग करने का परिश्रम करता है।

उमा विरह जन्य पीड़ा से तड़प रही है। वह अन्तर्द्वन्द्व में फँसी हुई है। वह निश्चय नहीं कर पाती कि -

क्या करूँ कौन पथ अपनाऊँ ?
मन का रथ मन से पार गया।[2]

उनके मन की मौन अन्तर्ध्वनि मानो वन-देवियाँ अपने गान के रूप में प्रतिध्वनित करती है -

मैं पद दल की रेनु उदासी,
तुम किरणों के पार!
× × × × × × × ×
वह स्वरूप भी सुन्दर,
शंकर जिसे करे स्वीकार![3]

---

1. तमसा - पृ:12
2. वही - पृ:18
3. वही - पृ:20

मदन और वसन्त अपना कुचक्र चलाने लगते हैं। सारा वातावरण वासन्तिक हो जाता है। इस वासन्तिक वातावरण से मुग्ध होकर शिव की तपस्या भंग हो जाती है। शिव क्रोध से आँखें खोलते तो उमा के पास खडे काम-बाण छोड़ते मदन को देखता है। यह उसकी क्रोधाग्नि में तेल का काम लाता है। वे शाप से मदन को भस्म कर डालते हैं -

धधक धधक अनल शिखा,
तुझे लपेट ले लपट।[1]

घटना तथा पात्र सभी वह है जैसे मूलकथा में हो। उमा के आंतरिक संघर्ष दिखाना नाटककार का मूल उद्देश्य रहा। "उमा के मन की पीड़ा, संघर्ष और वेदना को सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है।"[2]

शंकर तथा मदन के बीच का संघर्ष, योग और भोग के बीच का संघर्ष है। इस संघर्ष में योग की विजय होती है और भोग का नाश होता है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों के सत्कर्म में भी बाधा डालने से नहीं हिचकते हैं। यहाँ शंकर स्वेच्छा से योगी बने हुए हैं। देवराज आदि देव-जन अपने स्वार्थ लाभ-वश उनकी तपस्या को भंग करना चाहते हैं। उन्हें अपना राज पद ही सब कुछ लगता है। अपनी स्वार्थ चिन्ता के प्रति वे अनभिज्ञ नहीं है -

स्वार्थमयी प्रार्थना हमारी,
शिव स्वेच्छा से योगी।
यह है पिछले मूल पुण्य के,
चक्रव्याज के भोगी।।
क्या प्रभाव हो भावशून्य
उससे निकली वाणी का?[3]

इन दोनों के संघर्ष से नाटककार हमें यह सुझाव देता है कि भोग नश्वर है, क्षणिक है तथा शाश्वत सत्य योग ही है।

****

---

1. तपसा - पृ:24
2. डॉ. शिवाकर कटारे - हिन्दी गीतिनाट्य: सिद्धांत और समीक्षा - पृ:27।
3. तपसा - पृ:4

[illegible] कार्य का [illegible] -

"भगीरथ"

यद्यपि भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर चुका है तो भी उसे बनाये [illegible] में भारत की जनता पूर्ण रूप से सफल न हुई। अनेक वर्षों की गुलामी ने उन्हें इस अंधेरे में डुबो दिया जिसके फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी कुछ दिनों के लिए [illegible] ग्रस्त अकर्मण्य रह गयी। इस निष्क्रियता से लोगों को अवगत कराना तथा निष्क्रियता की निद्रा से उन्हें जगाना तत्कालीन साहित्यकार का कर्तव्य था।

भगीरथ के द्वारा नाटककार ने लोगों को उत्तेजना दी कि यदि पुरुषार्थ प्रबल हैं तो कोई भी अनहोनी बात न होगी। यदि हमारा निश्चित आदर्श है, उसके लिए अशान्त, अविरत परिश्रम करे तो अनेक विघ्नों के बावजूद भी हम लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। हमारा जीवन लक्ष्यहीन है तो वह वन्ध्य वृक्ष के उपवन के समान शुष्क, नीरस बन जायेगा। चाहे समुद्र मथना पड़े तो मथ डालें और नगपति के शिखर पर चढ़ जायें, यदि उनका उद्देश्य महान हो।

नाटककार यह स्थापना करना चाहा कि यदि मानव में इच्छाशक्ति, आत्मविश्वास तथा कर्मठता है तो पृथ्वी पर स्वर्ग आ सकता है। इस बात को समझाने के लिए उन्होंने भगीरथ को माध्यम बनाया है।

भगीरथ की तपस्या लोक प्रसिद्ध है। उसके लिए "असंभव" शब्द अर्थहीन है। वह गंगा को धरती पर लाने के लिए काल के प्रवाह के आगे आँखें मूँद कर, हृदय खोलकर तपस्या निरत है। [illegible] ने की गयी तपस्या इन्द्र लोक में भय की अंगारें छिटकने लगी। इन्द्र ने भगीरथ की तपस्या को भंग करने हेतु उर्वशी तथा रंभा को भेजा। उनका उद्देश्य यह था कि किसी न किसी प्रकार भगीरथ की तपस्या को भंग करे। वे दोनों मन-मोहक गान तथा नृत्य करने लगीं। लेकिन अन्तर्मुख भगीरथ के सामने उन दोनों का परिश्रम व्यर्थ सिद्ध हुआ - देखिए पृ 202.

से संतुष्ट होकर स्वयं गंगा प्रत्यक्ष हो गयी और उसने वर दे दिया। लेकिन यहाँ नाटककार अपनी रचना में थोड़ा सा बुद्धिसंगत परिवर्तन लाया है। क्योंकि एक नदी का स्वयं आकर भगीरथ से बातें करना आज के बुद्धिवादी दृष्टिकोण से बिलकुल मेल न खाता।

भगीरथ की कर्मठता आत्मविश्वास आदि दिखाना नाटककार का मुख्य उद्देश्य था। वह दृढ इच्छाशक्ति और उज्ज्वल चरित्र के कर्मयोगी था जो निश्चल और निर्मल साधनों से मानव का कल्याण चाहते थे।[1]

पर-जन-हित तपस्या में निरत भगीरथ आज की दुनिया के जन कल्याण में निरत एक कर्मनिष्ठ जन-नेता का प्रतीक है। जो अपने सुख-आराम की परवाह किये बिना अपने जीवन को भी बलि देकर दूसरों की कल्याण में निरत है। ऐसे कर्मठ व्यक्ति को, अपने लक्ष्य तक पहुँचने में अनेक रुकावटों का सामना करना पड़ेगा जैसा कि भगीरथ को इन्द्र के कुचक्रों का सामना करना पड़ा।

किसी भी देश की प्रगति, उस देश की जनता की मेहनत पर भी आधारित है। अकर्मण्यता और आलसीपन मानव का सबसे बड़ा शत्रु है। मेहनत करने से डरनेवाले लोग किसी भी परिवार राज्य या देश का अभिशाप है। भारत-वर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिपल फैलनेवाले खौफनाक अंधकार पर विचार करते हुए डॉ. विद्या-निवास मिश्र ने उसके मुख्य कारणों की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने ठीक ही कहा है - "तप का तेल तो जाने कब तक सूख गया है?"[2]

इतिहासकार और इतिहास के छात्र महान शासक नेपोलियन की चर्चा के सिलसिले में उनके व्यक्तित्व के इस मुख्य पहलू को उभारते हैं कि उनकी राय में उनके शब्द-कोश में "असाध्य" नामक कोई शब्द नहीं है। लेकिन इस भारत की पुण्य धरती पर नेपोलियन के हज़ारों वर्ष पहले ही ऐसी एक विभूति का जन्म हुआ था जिसके लिए असंभव शब्द अर्थ-विहीन था।

---

1. डॉ. शिवशंकर कटारे - "हिन्दी गीतिनाट्य: सिद्धांत और समीक्षा" -पृ:257
2. विद्यानिवास मिश्र - "आधुनिक निबंधावली" - पृ:125

गंगा को लाना ही होगा, लाना ही होगा उन्हें,
स्वर्ग छोड़कर इस धरती पर आना ही होगा उन्हें।"[1]-

यही उसका दृढ़ संकल्प था। अपनी तपस्या के साक्षात्कार के लिए वह तिल-तिल जल जाने को भी वह तैयार था -

"तिल-तिल कर मर जाऊँगा मैं आत्मा की धृति शेष है।"[2]

भगीरथ अपनी लक्ष्य प्राप्ति के लिए, पितरों की मोक्ष प्राप्ति के लिए अटल, अडिग, अडोल रहकर आँखें मूँद, हृदय खोलकर तपस्या कर रहा था। भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उससे इष्ट वरदान के बारे में पूछा। उसने अपनी इच्छा - कपिल की क्रोधाग्नि में असहाय जल गये पितरों का उद्धार - प्रकट की। दोनों में तर्क-वितर्क उठ रहा हुआ। ब्रह्मा ने पितरों के उद्धार की अपनी शंका व्यक्त की कि पारिवि दुनिया में कर्म की ही प्रधानता है। सुख, दुःख आदि अपने-अपने कर्म पर ही निर्भर रहता है। यहाँ तक कि स्वर्ग भी कर्म पर निर्भर है। यहाँ नाटककार ने ब्रह्मा के वचनों से कर्म की प्रधानता व्यक्त की है।

भगीरथ के पर-हित-तप से ब्रह्मा अधिक प्रभावित हुए। गंगा को पृथ्वी पर उतरने का वरदान दिया। उन्होंने यह भी बताया कि गंगा के उग्र धार को केवल कैलासवासी शंकर ही संभालेगा। अतः उन्हें भी प्रसन्न करना चाहिए। उसी समय शंकर सहर्ष वहाँ पहुँचे और गंगा के वेग को झेलने के लिए तैयार हो गये -

"मैं प्रसन्न अविरत प्रसन्नता-दायक हूँ
बचे भगीरथ, मैं आ लक्ष्य सहायक हूँ।[3]

नाटक के अंत में, भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा के आने के प्रसंग में थोड़ा-सा परिवर्तन लाया है। मूल कथा में भगीरथ की तपस्या

---

1. जानकी वल्लभ शास्त्री "पाषाणी" - पृ:24
2. वही - पृ:24
3. वही - पृ:29

यदि कोई भी व्यक्ति अपने लक्ष्य में निश्चित आशा रखता है, उसमें उसका अटल विश्वास है, उसकी इच्छा प्रबल है तो उसके मार्ग में पड़े प्रतिबंधों की वह परवाह नहीं करता, अवश्य अपना लक्ष्य की मंजिल पहुँच सकता है। नाटक की शुरुआत में नाटककार ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है -

हे पुरुषार्थ प्रबल, तो कोई भी अनहोनी बात क्या?
जीवन रथ के लिए दुनिया क्या और अंधेरी रात क्या?[1]

मानव जीवन में कभी सुख ही सुख या दुःख ही दुःख झेलने को नहीं मिलता। दोनों का सम्मिश्रण ही जीवन है। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में सुख का दिन भोग रहा है उसे अवश्य ही दुःख का अंधकार भी सहना पड़ेगा।

यह तो एक सार्वकालिक और सार्वलौकिक सत्य है कि परहित के तप में लगे महान पुरुषों के मार्ग में स्वार्थी लोगों ने बाधाएँ उपस्थित की हैं। यहाँ देव गणों को यह भय उत्पन्न होने लगा कि भगीरथ अपने असिधारा व्रत से सारे स्वर्ग के अधीश न हो जाये। इस भय से कि वे भगीरथ के अधीन हो जाये, उन्होंने उसकी तपस्या को भंग करने के लिए परिश्रम किया। उर्वशी, रंभा आदि ने भी अपने मोहक नृत्य से भगीरथ की तपस्या को भंग करने का परिश्रम किया। लेकिन उनके नृत्य-गान सब निष्प्राण हो गये और भूपति की आँखें न खुलीं। उस तपस्या के आगे स्वर्ग भी निष्फल हो गया -

घुटती घुटती सी, धूमाकुल सुषमा गृह ज्यों जल गया।
अन्तर्मुख भूपति के सम्मुख सुमुख स्वर्ग निष्फल गया।।[2]

अपनी तपस्या के बीच में आयी बाधाओं के आगे उसका सिर झुका नहीं, उसके मन का रथ कभी नहीं रुका। वह अपनी लक्ष्य प्राप्ति में अपने प्राणों को भी न्योछावर करने के लिए तैयार था -

इतना तप पर्याप्त नहीं? प्राणों की आहुति शेष है।[3]

---

1. पाषाणी - पृ:17
2. वही - पृ:23
3. वही - पृ:24

मानव अपना परिश्रम परहित के लिए करे, अन्य जनों की भलाई ही इसका मूल रहे तो उसका फल अवश्य ही उसे मिल जायेगा। यदि हम अपना स्वार्थ छोड़कर अन्य जनों की भलाई के लिए या लोक मंगल की भावना से ईश्वर की प्रार्थना करे तो उसमें वह अधिक सफल हो जायेगा। यहाँ भगीरथ भी स्वार्थ सुख छोड़कर वर्षा, ग्रीष्म आदि ऋतुओं से मिली कठिनाइयों की भी परवाह किये बिना कपिल की क्रोधाग्नि में जले अपने पूर्व-पुरुषों की मुक्ति के लिए वर्षों तक प्रार्थनानिरत है। उसकी तपस्या से ब्रह्मा संतुष्ट हुए और समूचे स्वर्ग को दान देने के लिए तैयार हुए। यह उनका केवल दान नहीं बल्कि यह उसके "कृच्छ तप का मान" है।[1] लेकिन पितरों की मुक्ति के सम्मुख स्वर्ग का उसके पास कोई स्थान नहीं है। उसने मुक्ति पथ को ही स्वर्ग से अधिक महत्व दिया -

मुक्तिपथ अपना सके मानव अगर -
तो न हो क्या सिद्धि? स्वर्ग मिले नहीं?[2]

मानव के बीच भगीरथ जैसा कर्मठ, पर जन हितकारी व्यक्ति के जीवित रहने की बात जानकर देव जन भी संतुष्ट हैं। देवर्षि नारद की बातों में यह स्पष्ट भी हुआ है -

पुलकित रोम रोम, विस्मित चकित चित्त,
आज भी धरा पर भगीरथ सी प्राणी है।[3]

सत्य और लोकमंगल के लिए की गयी तपस्या व्यर्थ न निकली और उससे प्रसन्न होकर गंगा के प्रवाह को संभालने का दायित्व झेलनेवाला शिव भी लोक मंगल का संदेश सुना रहे थे।

स्पष्ट है, इस नाटक के द्वारा जानकी वल्लभ शास्त्री ने इस महान तथ्य का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य का संकल्प, उसकी प्रज्ञा, उसकी एकांत निष्ठा, उसकी अविचलित कर्मशक्ति सब कुछ मिलकर किसी भी अनहोनी बात को संभव कर सकती है।

****

---

1. पाषाणी - पृ:24
2. वही - पृ:26
3. वही - पृ:24.

उधार ली हुई जवानी -

"ययाती"

जवानी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी आमोदमयी उमंगी और ओजस्वी अवस्था है। यौवन में आशाएँ और उमंगें बड़े जोश से संवारी जाती हैं। जवानी से बुढ़ापे की ओर चले जाने की आशा कोई नहीं करता, लेकिन बुढ़ापे से जवानी की ओर लौट आने की चाह सबके मन में है। जवानी-जीवन की यह मद-भरी अवस्था-स्थिर न रहेगी, इसे खा लेने के लिए बुढ़ापा हर घड़ी उसका पीछा कर रहा है। अकसर ऐसा होता है कि बीते हुए मधुरिमापूर्ण क्षणों का ज़ायका लेने के लिए ही बुढ़ापा जवानी की ओर लौटना चाहती है। लेकिन इसका अपवाद भी है कि जवानी को लेकर विलास की होली खेलने की अपेक्षा पुनः एक बार जवानी में आकर कामनाओं को जगाते हुए उन्हें दबाने तथा यों अपने मन को वश में रखने को सीखने के लिए बुढ़ापा जवानी की ओर लौटना चाहती है। पौराणिक पुरुष ययाति की प्रसिद्ध कथा इस चाह से जुड़ी हुई है।

यह तो विधि की विडंबना थी कि महाराजा ययाति की छोटी रानी शर्मिष्ठा को बड़ी रानी देवयानी की दासी के रूप में रहना पड़ा। राज-कुमारी होकर भी दासी के रूप में ज़िन्दगी बिताने का शाप खुद उसके पिता वृषपर्वा ने दिया था। यह शाप अपनी बेटी को इस अपराध में दिया था कि गुरु पुत्री देव-यानी को कुएं में डाल दिया। उस कुए से ययाति ने उसका हाथ पकड़कर बाहर निकाला। इस प्रकार वह ब्राह्मण कुमारी, शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को महाराज ययाति की पत्नी बनने का सौभाग्य मिला। शर्मिष्ठा के तीनों बेटों को उस राज-महल में दासी के बेटे के समान जीना पड़ा। शर्मिष्ठा के बेटे यह जान लेने के लिए बहुत जिज्ञासू थे कि उनके पिता कौन था? इतने बड़े सत्य को छिपाना ययाति भी नहीं चाहता था, यही नहीं अपनी आँखों के सामने शर्मिष्ठा को देवयानी की लात और गालियाँ सहते हुए देखकर उससे रहा न गया। अंततः शर्मिष्ठा के सामने ययाति ने यह सत्य प्रकट किया। भेद भरे राजभवन के अंधकार में बहुत दिन से जिस सत्य को

उनके बड़े और मंझले बेटे टटोल रहे थे वह सत्य हाथ में आया है लेकिन इससे भी बड़े एक विचित्र सत्य को उन्हें साक्षात्कार करना पड़ा। ययाति ने इन दोनों बेटों से एक वर्ष के लिए अपनी बुढ़ापे के स्थान उनकी जवानी की बदली करने की प्रार्थना की। बुढ़ापा मोल लेकर अपनी जवानी का गला घोंट लेना वे नहीं चाहते। इसलिए ययाति की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। ययाति ने देवयानी के दो बेटों से भी यही प्रार्थना दोहरायी। लेकिन वे भी मानने के लिए तैयार नहीं थे। पिता की आज्ञा पर न्योच्छावर होने के लिए सबसे छोटा पुत्र पुरु ही तैयार हो गया। उसके लिए "पिता ही धर्म, कर्म एवं पिता ही परम तप है और उस पिता की तृप्ति से सभी देवता प्रसन्न हो गये।"[1] आयु में सबसे छोटे होते हुए भी विद्या विनय और विवेक में सबसे आगे निकला। पिता से उसने समझ लिया कि दृढ इच्छा और शुद्ध संकल्प से, मंत्र के योग से और गुरुदेव की साधना से उसका युवा शरीर पिता को रहने के लिए मिलेगा, "रथ उसका होगा लेकिन सारथी बनेगा पिता।"[2] दोनों ने आपस में एक प्रकार का मानसिक समझौता ही किया। राजा ययाति के यौवन के इस संकल्प को देवयानी के बेटों ने उनकी चाल - उनका अधिकार छीन लेने की चाल - ही मान ली। उनको यह डर था कि उनकी माता देवयानी ने शर्मिष्ठा के ऊपर जो अत्याचार किये थे उस पाप का परिणाम शर्मिष्ठा के बेटा महाराज पुरु से उन्हें भोगना पड़ेगा। इसलिए देश छोड़कर कहीं दूर भागने में ही अपनी भलाई माना। महाराजा का बुढ़ापा लेकर राजसी वेष में राजमुकुट पहने पुरु जब देवयानी और शर्मिष्ठा के पास आया, ययाति जैसा प्रेमपूर्व व्यवहार किया, उन्होंने उसे धिक्कार लिया। उसके समझाने पर भी उन दोनों ने यकीन नहीं किया। अंत में ययाति आकर उन्हें विश्वास दिलाया कि उन दोनों ने आपस में अपनी काया को बदला है। इसी बीच ययाति ने देवयानी के दोनों बेटों और शर्मिष्ठा के दोनों बेटों को बन्दी बनाने का आदेश दिया। उन्होंने इस काया पलट का सत्य जनता से छिपाना चाहा। जनता कोई विद्रोह न करे इस कारण पुरु ने चैत्ररथ वन जाने का निश्चय कर लिया। गुरुदेव ने चैत्ररथ वन जाने की सारी व्यवस्थाओं की तैयारियाँ कीं और जाने के लिए राजाज्ञा माँग रहे थे कि देवयानी ने आकर पुरु के

---

1. गोविन्द वल्लभ पंत - "ययाती" - पृ:32
2. ययाती - पृ:32

विरुद्ध अभियोग खड़ा कर दिया कि पुरु ने पाप स्पर्श से उसे कलंकी बनाया और अश्लील वचन भी कहा। एक साधारण नागरिक के रूप में पुरु को दण्ड देने का न्याय माँगा। यह धमकी भी उसने दी कि पुरु को दण्ड नहीं दिया जायेगा तो अनशन कर प्राण त्याग देगी। देवयानी को संतुष्ट करने के लिए ययाति ने पुरु को चैत्ररथ वन में एक वर्ष के निर्वासन का दण्ड दिया। यह तो एक बहाना मात्र था। देवयानी ने बाद में समझ लिया कि उनके बेटों को महाराजा ने बन्द कर दिया है। शर्मिष्ठा और देवयानी अपने पुराने वैर भूलकर राजा से विद्रोह करने के लिए एक हो गयी। वर्षों की उनकी शत्रुता मिट गयी। जीवन भर दोनों के बीच में मेल कराने की जी तोड़ चेष्टा ययाति ने की थी लेकिन एक दिन के लिए भी वे एक न हो सकी। लेकिन अपने बेटों की दुर्दशा देखकर दोनों एक दूसरे की सखी हो गई। प्रजा में विद्रोह बोकर उसे दो हिस्सों में बाँट देने की प्रतिज्ञा उन्होंने ली।[1] ययाति ने सब प्रहरियों से यह आज्ञा दे दी कि आगे से लेकर दोनों महारानियों के लिए राजभवन के द्वार बंद ही देंगे और दोनों पुराने भवनों में ही रहेगी। चैत्र-रथ वन की एक गुफा में गुरु और पुरु ठहरे। आखेट के लिए इसके पहले कई बार पुरु यहाँ आया था। यौवन के वर्ष की गिनती के लिए एक जल की घड़ी भी गुरुदेव लाये थे। इसके सिवा पाँच नर्तकियों को भी साथ लाये थे। वे उस गुफा के पाँच द्वारों पर खड्ग धारिणी प्रहरिणियों के रूप में पहरा दे रही थीं। इस गुफा के अन्दर कामदेव की एक मूर्ति थी जिसकी कोई नित्य पूजा करता हुआ जान पड़ा। उस मूर्ति की आँख पर एक पट्टी बाँध दी थी। पुरु ने वहाँ बैठकर एक यज्ञ करना चाहा। पाँचों काम बालाओं से नृत्य करने के लिए उसने गुरुदेव से कह भेजा जिससे कोई कामना जागकर उसके मन में प्रकट होने हो उसकी आहुति करने को सोचा। इसी बीच एक ग्रामीण लड़की मालती कामदेव की मूर्ति की पूजा करने के लिए उधर आयी। उसने मूर्ति की आँखों पर की पट्टी हटाकर उसे फूल की माला चढ़ाई। लड़की ने पुरु से मिलने पर बहुत जल्दी उसे पहचान लिया कि पिछले साल आखेट के-लिए युवराज के साथ उधर आये युवक ही है जिसके साथ उसका मन लग गया था और जिसने देवता के सामने प्रतिज्ञा की थी कि एक वर्ष के भीतर आकर उससे विवाह कर

---

1. ययाति - पृ:55

लेगा। यह समझाने प मालती मानने के लिए तैयार नहीं थी कि पुरु के शरीर में रहनेवाला एक दूसरा प्राण ही था। पुरु ने मालती को बता दिया कि उसके साथ की गयी प्रेम-प्रतिज्ञा राजधानी में बूढ़े महाराज के पास थी, इसलिए वह राजधानी में जाकर वह न्याय पूछ सकेगी। उस गुफा में एक दूसरी नारी - अप्सरा विचित्रा - को शाप ग्रस्त होकर एक वर्ष के लिए मृत्यु-लोक उतर आना पड़ा। यह तो संयोग की बात थी कि जैसे ययाति भी एक ही वर्ष के लिए बुढ़ापे के लोक से लौटकर यौवन के लोक में आया है। ठीक उसी प्रकार विचित्रा को भी एक वर्ष के लिए निर्वासन मिला था। विचित्रा के कहे अनुसार पुरु ने पाँचों कामबालाओं को राजधानी की ओर वापस दिया। विचित्रा से बातें करने के बाद पुरु को ऐसा लगा कि वह यज्ञ की परिपूर्णता के लिए ही यहाँ आयी है। पहले ही गुरुदेव ने पुरु को समझाया था कि सहधर्मिणी के बिना यज्ञ अपूर्ण ही रहेगा। पुरु ने उस अप्सरा की इच्छा के अनुसार उसे गाँधर्व विवाह किया। इसी बीच एक दूत ने आकर संदेश दिया कि प्रजा में भयानक संघर्ष उठ खड़ा हुआ है। वर्ण व्यवस्था में बड़ी भारी उलट-फेर हुई है। ब्राह्मण पतित हो गये, क्षत्रिय विलासी और आलसी हो गये, वैश्य झूठे बन गये, प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गयी है। मालती ने राज-धानी में जाकर ययाति से मिला। राजसिंहासन में राज-मुकुट पहने बैठे हुए प्रेमी को देखकर उसे डर लगा। पिता की भक्ति से भर-पूर अपने प्रेमी पुरु को बुढ़ापे की ओट में बोलते हुए देखकर उसे घृणा भी आयी। उसकी आत्मा सिसकी है कि उसके प्रेम को दो टुकड़े कर दिया गया है। मालती राजमहल से लौटकर गुफ़ा में आयी और यह जानकर वह तिलमिला उठी कि उस आश्रम में अकेले रहनेवाले पुरु के साथ एक दूसरी नारी भी थी जिसके साथ पुरु का विवाह भी हुआ था। विचित्रा ने भी समझा कि पुरु के शरीर में मालती को अपने प्रेमी की ममता हुई है। विचित्रा ने पुरु को समझाया कि ययाति के मन की समस्त कामनाएँ उड़ चुकी है, इसलिए पुरु का यह कहना कि उसमें बसनेवाला मन ययाति का है - ठीक नहीं। पुरु बिल-कुल बेचैन हो गया और एक-एक होकर उसने वस्त्र, उत्तरीय, गले की माला, कानों के कुण्डल, करधनी सबकुछ उतारकर फेंक दिया। उसने बका, उसने बड़बड़ाया - ये भुजाएँ, ये चरण, ये मुख, ये वक्षस्थल नहीं इनमें से कोई ययाति नहीं फिर कहाँ है ययाति। पाँचों इन्द्रियों के भ्रम में स्पर्श, रस, गन्ध, बिन्दु और नाद।

नहीं वहाँ भी नहीं। पाँचों तत्वों के जल में - वहाँ भी नहीं विचित्रे! तुम मेरी बुद्धि हो, तुम हो ययाति[1]. विचित्रा ने पुरु और मालती का विवाह करा दिया। अपनी समस्त आभूषणों को उतार फेंकने के बाद गेरुए रंग की धोती पहनकर वह वहाँ से चली गयी। इतने में देवयानी और शर्मिष्ठा के बेटे पुरु की खोज में उस गुफा में आ गये। पिता पर जादू चलाकर उन्हें कारागार में डलवा देनेवाले पुरु से प्रतिशोध लेने के लिए ही वे वहाँ आये थे। जल्दी ययाति भी वहाँ पहुँचा। ठीक एक वर्ष की समाप्ति पर अपना राजमुकुट लौटा देने पर पुरु भी व्याकुल था। उस गुफा में सबका पुनर्मिलन हुआ। पुरु ने महाराज ययाति के पैरों पर गिरकर राजमुकुट उनके चरणों पर रख दिया। ययाति ने अपने शरीर में लौटकर फिर अपना राज्य लौट जाना नहीं चाहा। सबसे बड़े राजकुमार के सिर पर राज-मुकुट पहना दिया। अपने चारों भाइयों की मदद से प्रजा का पालन करने के आदेश के साथ सबको राजधानी की ओर भेजा।

ययाति ने पहले ही वर्णों को शुद्ध करने के लिए क्षत्रियों को किसान बनने की आज्ञा दी थी। इससे प्रभावित होकर पुरु ने जाते वक्त, अपने पिता ययाति को वादा दिया कि वह खेती-बारी करके किसान बनेगा और प्रजा का आधार, अन्न का दाना उपजायेगा। विश्व शान्ति और मानव कल्याण के - लिए ययाति ने प्रार्थना की उसके साथ नाटक समाप्त होता है।

कामनाओं के ऊपर मन की विजय का महान संदेश नाटक में गूँजता है। नाटककार ने यही कहना चाहा है कि सबसे भयानक दासता, इन्द्रियों की दासता है। मन जिसकी मुट्ठी में है, वह विश्व का विजेता है। लेकिन मन के भीतर का शत्रु - कामनाएँ - मनुष्य को विश्व विजेता बनने न देता। अपने मन के भीतर के इस शत्रु को ययाति मिटाना चाहता है। वे वैराग्य से कामनाओं को जीत लेने के पक्ष में नहीं है। क्योंकि उनकी राय में इन्द्रियों के दुर्बल पड़ जाने पर जो वैराग्य है, वह साधना नहीं भ्रांति है, जीत नहीं हार है बुढ़ापे में अतृप्त कामनाओं की समाधि पर वैराग्य का झंडा नहीं गाड़ा जा सकता। यौवन

---

1. ययाति - पृ:122

के उद्धत वेग को ज्ञान की शक्ति से रोक देना ही सच्चा वैराग्य है।[1] ययाति का मतलब काल की सहायता से कामना को जीतना है। उनकी मान्यता यह है कि भोग में भी योग है और योग में भी भोग है। मन को बेड़ियों में जकड़ देने या उसे भूखा मार देने से मन वश में नहीं होता, बल्कि विद्रोही होता है। कामनाओं की तृप्ति से ही इच्छाएँ समाप्त हो जाती है और मन की बागडोर हाथ में आती है। बुढ़ापे में कामनाएँ मरती नहीं, वे मूर्च्छित पड़ी रहती है। ययाति ने इन्हीं कामनाओं को यौवन का बल देकर मिटा देना चाहा। ययाति के यौवन का संकल्प पुरु की सहायता से पूरा हो गया। पुरु की दृढ़ इच्छा और शुद्ध संकल्प से, मंत्र के योग से और गुरुदेव की साधना से पुरु का युवा शरीर ययाति को रहने के लिए मिल गया। पिता के लिए किये गये पुरु के त्याग पर दरअसल उसने अपना जो विजय स्तंभ ऊँचा किया वह हज़ारों शताब्दियों को छेदकर ऊपर निकल आता है। पुरु और गुरु चैत्ररथ वन की जिस गुफा में रहे, उस गुफा और उसके पाँच द्वारों को प्रतीकात्मक ढंग में प्रस्तुत किया गया है। राजदरबार से आयी पाँचों नर्तकियाँ ही गुफा के पाँचों द्वारों की खड्गधारिणी प्रहरिणियों के रूप में रहीं। उनके संबंध में पुरु ने कहा कि ये मेरी एक-एक इन्द्रियों के द्वार की प्रहरिणी हैं।[2] उसने पाँचों बालाओं से नृत्य करने के लिए इसलिए कहा कि उनके नृत्य से कामना जागकर उसके मन में प्रकट हो जाय और फिर उस कामना की आहुति करने का प्रयास वह करे। चैत्ररथ की उस गुफा को मालती एक आश्रम मानने के लिए तैयार नहीं हुई जहाँ एक से एक बढ़कर सुन्दरियाँ नाच रही हैं, बढ़िया भोजन पक रहा है, आसव ढाला जा रहा है, द्यूत क्रीड़ा हो रही है उस स्थान को उसने विलास का डेरा ही माना। उसे समझाते हुए पुरु ने कहा - हँ हँ हँ ....और नहीं तो क्या पाँचों इन्द्रियों को भूख से तड़पाकर मन को फाँसी पर लटका देने के स्थान का नाम ही तुमने आश्रम रखा है, क्या? तब तुम्हीं ठीक हो। लेकिन यहाँ तो त्याग और तृप्ति, भोग और योग, बन्धन और मुक्ति, अँधेरा और उजाला साथ-साथ हिलमिल कर रहते हैं। इसी जोड़ का नाम योग है। वदन में राख पोतकर नंगे हो जाने की बात दूसरी है।[3] ययाति इन्द्रियों की पूर्ति को ही सही

---

1. ययाति - पृ:21
2. वही - पृ:58
3. वही - पृ:65

माननेवाला है। भावनाओं को इधर-उधर भटकाकर भगवान के लिए कोरे हाथ जोड़ रखना उन्होंने पाखण्ड माना। उस गुफ़ा में विचित्रा के आगमन के बाद पाँचों नर्तकियों को ययाति ने इसलिए लौटा दिया कि विचित्रा में इन पाँचों की एकता देखी। उसने महसूस किया कि ये पाँचों नर्तकियाँ उनकी पाँचों इन्द्रियों की चंचलता थीं और विचित्रा उनकी बुद्धि की स्थिरता है। यह तो स्वाभाविक है कि मन में बुद्धि के प्रवेश करते ही वहाँ कामनाएँ फिर ठहर न सकती। कामना को कामना में ही भस्म कर देना है, यही उनका दृढ विश्वास है। उसने विचित्रा को उसकी व्याख्या भी दी कि अन्न का दाना पृथ्वी में बोया जाता है, जल से सींचा जाता है, वायु में साँस लेता है, धूप में पकता है और प्रकाश में बढ़ता है फिर पाँच तत्वों में अनाज का दाना लीन हो जाता है।[1]

स्वातंत्र्योत्तर भारत की एक भीषण समस्या है खाद्य समस्या। पुरु जो एक वर्ष के लिए राजा बना, किसान कन्या मालती के साथ खेती-बारी कर जीवन बिताने के लिए उद्यत हो गया, जिससे कि ययाति के वंश में वह कृषक बने। ययाति ने अपने शासन व्यवस्था में परिवर्तन डालते समय क्षत्रिय के ऊपर कृषक का काम सौंप दिया था। जो पेशा अन्न उपजाकर सारी प्रजा के प्राण बचाता है, उस पेशे की महत्ता को भी उसने समझाया।[2] अन्न उपजाने में पुरु को प्रवृत्त कर नाटककार ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की खाद्य समस्या का समाधान भी ढूँढ निकाला है।

****

---

1. ययाति - पृ:82
2. वही - पृ:93

युद्ध की अनिवार्यता पर एक बहस -

"एक कंठ विष पाई"

अनगिने युद्धों की गवाही बन चुकी पृथ्वी इस सत्य का निराकरण कभी नहीं कर सकती है कि युद्ध मानव सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप है। मानव समाज की भलाई के लिए अभी कोई भी युद्ध नहीं लड़ा गया है। उसके मूल में किसी व्यक्ति या गुट की स्वार्थ भावना ही काम कर रही है। जिनके दिमाग में युद्ध के बीज पनपते हैं वे उसके दुष्परिणामों के संबंध में तनिक भी सोचते विचारते नहीं। एक जलते सत्य की ओर नज़र डालने से वे कतराते हैं कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी को युद्ध के संपूर्ण विध्वंस को ढोना पड़ता है, सामान्य जनता बुरी तरह पिसी जाती है।

प्रजापति दक्ष ने एक बहुत बड़े यज्ञ का विशाल आयोजन किया है जिसमें तीनों लोकों के प्रतिनिधियों, समस्त ऋषियों को आमंत्रित किया। चुन-चुनकर उसने कैलास लोक के हर प्रतिवेशी को आमंत्रण भेजा। यज्ञ के लिए जो व्यक्ति अनाहूत रह जाते थे वह और कोई नहीं उसकी ही पुत्री और जामात शिव थे। जानबूझकर ही इतने बड़े यज्ञ का आयोजन करके दक्ष ने उनका आमंत्रण नहीं किया था। शिव को अपने जामाता कहने में दक्ष अपने-आप को अपमानित अनुभव करता था। वह यही मान बैठा है कि शिव ने अपनी बेटी के अबोध मन को फुसलाकर उसे विविध प्रलोभन में डालकर उसे जीत लिया है। खुद को महादेव कहनेवाले शंकर के इस अपहरण को उसने अक्षम्य माना। पत्नी वीरणी के समझाने पर भी शंकर के देवत्व या महिमा मानने के लिए दक्ष तैयार नहीं था। इस शादी का सारा दोष शिव पर ही लगाया है। शिव के प्रति दक्ष के मन में प्रतिशोध खौलता ही रहा क्यों कि शिव ने घर की परंपरा को तोड़कर उसके यश पर लांछन लगाया है। दक्ष ने यही चाहा कि जिस व्यक्ति ने उसकी बाह्य प्रतिष्ठा खण्ड की है उसकी आत्म प्रतिष्ठा अवश्य तोड़ना है।

दक्ष का निमंत्रण पाकर सारे ऋषि, देव और राजप्रमुख वहाँ पहुँचे। सती भी महादेव शंकर के गणों और नन्दी के साथ यज्ञ मण्डप में पहुँच गयी।

महामात्य को ज्ञात था कि दक्ष ने सती को आयोजन में आमंत्रित नहीं किया था। अनुचर से यह संदेश मिलते ही दक्ष ने सती को कैलास लोक में वापस भेजने का आदेश दिया। अनुचर से दक्ष और वीरणी यह भी ज्ञात हुआ कि यज्ञ-मण्डप में अनाहूत आयी सती अपने पति की अवज्ञा पर क्रुद्ध और क्षुब्ध थी, धर्म और शासन की सारी मर्यादाओं को तोड़कर सबको अपशब्द कह रही थी। वह मानहानी दक्ष सहन नहीं कर सका और उसने सती को कैलास लोक भेजने का दृढ़ निश्चय लिया। लेकिन ममतामयी माता वीरणी के अनुनय विनय के सामने दक्ष को अपना निश्चय बदल लेना पड़ा और यज्ञवेदी की ओर चले जाने के पहले उसे वादा दिया कि शिव के प्रति उसका आक्रोश कभी सती पर न उतरेगा, राजसी गौरव के साथ सती यज्ञ में रहेगी। लेकिन अनुचर के मुँह से यह सुनने पर कि सती ने यह शर्त भी नहीं माना, दक्ष तिल-मिला उठा और अंतिम निर्णय खुल्लम-खुल्लम बताया कि -

मेरा दृढ़ निश्चय है
मेरे आयोजन में
शंकर का कोई स्थान नहीं होगा।
यही नहीं
युग युग तक
किसी यज्ञ अथवा आयोजन में
उसको निमंत्रण तक न जाएगा।[1]

जैसे ही दक्ष क्रोधातुर होकर रोष व्यक्त करते हुए यज्ञ मण्डप में घुसे उसी क्षण सती ने यागाग्नि में कूदकर आत्माहुति की। -

भस्म हो गया उसमें
सुन्दर सर्वांग चन्द्र - गौर वर्ण
और दूसरे ही पल
भगवती सती का अधझुलसा शव
सामने पड़ा था।[2]

---

1. दुष्यन्त कुमार - "एक कंठ विषपाई" - पृ:32
2. वही - पृ:35

पति के अपमान का प्रतिशोध पत्नी ने अपने जीवन देकर किया तो पत्नी वियोगजन्य दु:ख और प्रतिशोध ने शंकर को विनाश के ताण्डव नृत्य करने के लिए प्रेरित किया। इन्द्र के समझाने के बावजूद भी शिव के अनुचर गण और भृत्य अपने रक्तपान छोड़ने को तैयार नहीं थे। विष्णु पर भी वीरभद्र का प्रहार पड़ा। मदोन्मत्त भृत्यों ने यज्ञवेदी पर टूट पड़कर वहाँ उपस्थित मुनियों के शीश पर पाँवों से प्रहार किया, दक्ष का शिरच्छेद किया। अंतत: सारा नगर निर्जन बन गया। इस प्रकार यज्ञ की वेदी पर निरीह मानवों की आहुति हुई। पत्नी-वियोग ने शिव के मानसिक संतुलन को नष्ट कर डाला। अपने कन्धों पर सती का अधझुलसा शव लटकाये वह घूम रहा था। रह-रहकर वह अपनी पत्नी का मुख देखकर बिलख रहा था। इन्द्र, वरुण और शिव के प्रतिवेशी अलकापति कुबेर सबने एकमत होकर ब्रह्मा से शिव को अपने उद्दण्ड आचरण को दण्ड देने की प्रार्थना की। लेकिन शंकर की पीड़ा पर दु:खित ब्रह्मा अपने कुण्ठित विवेक के कारण कुछ भी सोच नहीं सका। इन्द्र ने कुबेर और वरुण को शंकर के पास अनुनय विनय के लिए भेजा। लेकिन अपनी पत्नी के अपार शोक में मग्न विभ्रान्त-सा बने शंकर पर उनके अनुनय विनय का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। शंकर के मन में उनके प्रति कभी न दबनेवाली प्रतिशोध ज्वाला इसलिए है कि दक्ष के यज्ञ में उपेक्षित उसपर किसी ने ध्यान नहीं दिया, किसी की भी हमदर्दी वह नहीं चाहता। इन दोनों का आगमन मात्र आचरण और शिष्टाचार के रूप में ही लिया है। मित्रता के उनके इस बहाने पर उसने गहरा व्यंग्य भी किया

मित्र अगर होते तुम
मेरा अपयश या अपमान न होता,
या तो यज्ञ न होता
अथवा ऐसा कल्कि विधान न होता।[1]

शंकर ने कुबेर और वरुण को अपना अंतिम निर्णय सुनाया है कि यदि संध्या तक सती में चेतना न लौट आयेगी तो वह अवश्य देवलोक तक युद्ध छिड़ेगा और पूरा ब्रह्माण्ड भस्म कर देगा। अपने निर्णय के अनुसार आगे वह अपनी सेनाओं सहित देवलोक की सीमा तक पहुँचा और अगणित घर को उजाड़ दिया। इन सबके बावजूद भी ब्रह्मा

---

1. "एक कंठ विषपाई" - पृ: 79-80

इन्द्र के सुझाव को मानने के लिए तैयार नहीं था कि युद्ध के सिवा कोई विकल्प शेष नहीं। युद्ध करने के लिए सारी सेना प्रतीक्षारत है। लेकिन ब्रह्मा ने सेना का शान्त रहने का आदेश ही दिया। शिव-सेना की चढ़ाई की शिकार बनी जनता शासन को कोसने लगी। यहाँ तक कि उत्तेजित भीड़ ने ब्रह्मा के पास आकर कायर शासन को छोड़ने का नारा लगाया। एकत्रित भीड़ इन्द्र, वरुण और कुबेर शंकर के साथ युद्ध करने की अपनी ठान प्रकट की। लेकिन युद्ध को आत्मघात माननेवाले ब्रह्मा युद्ध का आदेश देने के लिए तैयार नहीं था। सभी लोगों ने उसपर शिव शंकर की ममता का आरोप लगाया। जब उनमें यह विवाद चल रहा था तो क्रुद्ध होकर शंकर सीमाओं में घुस आकर चिल्लाकर अपनी प्रतिहिंसा उद्घोषित करते फिरा। ऐसे गूढ गंभीर प्रश्न से विचलित ब्रह्मा और अन्य लोगों के पास विष्णु का आगमन हुआ। विष्णु ने अपना मत सत्य के पक्ष में लेने का निश्चय किया। उसने सैनिकों से रण की वाद्य बजाने का आदेश देकर वह सेना के नायक बना। उसने शंकर पर प्रथम बाण छोड़ा और शंकर के स्वप्न को तोड़ा। दरअसल विष्णु ने प्रणाम बाण ही छोड़ा था जिसके कई फलक थे, जिसने शिव के कन्धे पर पड़ी हुई भगवति सती के शव को खण्ड-खण्ड कर पल में चारों दिशाओं में छितरा दिया। इस उद्घोषण के साथ नाटक समाप्त हुआ कि महादेव शंकर की सेनाएँ लौट गयी है और सीमा पर रक्तपात का अंत हुआ है और युद्ध समाप्त हुआ।

प्रस्तुत नाटक एकदम एक नये भाव-बोध को लेकर पेश हुआ है। युद्ध की विभीषिका और मानव-मूल्यों का संकट प्रस्तुत करना ही नाटककार का लक्ष्य है। भूमिका में नाटककार ने स्पष्ट किया है कि यह काव्य नाटक पौराणिक परिवेश द्वारा जर्जर रूढियों और परंपरा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित किया है।[1] इस नाटक में शिव तीन रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है - परंपरा के प्रति विद्रोही, परंपरा ग्रस्त व्यक्ति और भारतीय संवेदनाओं से युक्त मोहासक्त प्रेमी। इस प्रकार शंकर पर्याप्त अन्तर्विरोधों से ग्रस्त दिखाई पड़ा और आधुनिक मानव के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को

---

1. "एक कंठ विषपाई" - आभार कथा - भूमिका

व्यंजित करने की क्षमता है। बहुत से आलोचक इस मत से सहमत है कि दुष्यन्त - कुमार ने शिव के अन्तर्विरोध के माध्यम से आधुनिक मनुष्य के मानसिक द्वन्द्वों को प्रस्तुत करने का प्रयास ही किया है।[1]

परंपरा से [illegible]ता अनिवार्य है। परंपराओं से चिपके रहने का अर्थ है, परिवर्तन का अस्वीकृति। आज के युग की मुख्य समस्या मूल्यों के विघटन को लेकर है। युद्धोत्तर युग में यह मूल्यगत ह्रास देखने को मिलता है। इससे एक ओर तो प्राचीन मूल्य मर्यादाओं के ऊपर से हमारा विश्वास हटने लगता है दूसरे नये मूल्यों को स्वीकार करने में हम कोई स्पष्ट धारणा नहीं बना पाते। इन मूल्यों के साथ परंपराएँ विशेष भूमिका निभाती है। "एक कंठ विषपाई" में परंपरावादी एवं परंपरामुक्त विचारधाराएँ बराबर चलती रहती है। दक्ष पूर्ण रूप से परंपरा का पोषक है। शिव से दक्ष का प्रतिशोध, यज्ञ विध्वंस और युद्ध में परिणत होता है। शिव के प्रतिशोध की ज्वाला में स्वयं दक्ष और दक्ष-पुत्रों की आहुति देनी पड़ी तथा ऋषियों की तापस मर्यादा पर भी तुषाराघात हुआ।[2]

सामाजिक स्थितियों की जटिलता परंपरा के प्रति विद्रोह को भी जटिल बना देती है। प्रेम तथा विवाह के संबंध में सामाजिक बंधनों से भारतीय मन अत्यधिक जकड़ा हुआ है और परंपरा ग्रस्त भी है। दक्ष ने इस परंपरा ग्रस्तता के कारण ही अपनी पुत्री का परंपरा से विचलित कर व्याही शिव को यज्ञ में आमंत्रित करने से इनकार कर दिया। यज्ञ मण्डप में अपने पति को समुचित स्थान न पाकर जब सती ने आत्माहुति की तो शंकर विरह व्यथा और प्रतिशोध की भावना से बिलकुल विचलित हुई। फलस्वरूप वे परंपरा ग्रस्त बन गये। पत्नी वियोग में दुःखी शंकर एक

---

1. अ देवेन्द्र इस्सर - "साहित्य और आधुनिक युग बोध" - पृ:164
   ब धनंजय शर्मा - "आस्वादन के धरातल" - पृ:166
   स. रमेश गौतम - "समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:112
   द. डॉ. रामकुमार गुप्त - "हिन्दी नाटक के प्रमुख हस्ताक्षर" - पृ:244
   य. डॉ. हरिचरण शर्मा - "नई कविता का धरातल" - पृ:244
2. "एक कंठ विषपाई" पृ:58

साधारण व्यक्ति के समान मोहान्ध होकर मृत्यु के सामाजिक सत्य को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो गये। वे परंपरा के शव को ढोते रहे। वे अपने देवत्व और आदर्शों की निरर्थकता पर विचार करने लगे -

हर परंपरा के मरने का विष,
मुझे मिला,
हर सूत्रपात का
श्रेय ले गये और लोग।[1]

इस प्रकार शंकर के व्यक्तित्व में परंपराग्रस्तता और परंपरा भंजक की भावना व्यंजित होती है। उनके परंपराग्रस्तता और परंपरा विद्रोह की विसंगति के द्वारा नाटककार आधुनिक व्यक्ति की त्रासदी को व्यक्त करना चाहता है कि वह किसी प्रकार परंपरा के बोझ से दबता चला जा रहा है।[2]

'एक कंठ विषपाई' की समस्या युद्धोपरान्त समाज की समस्या है। सर्वहत युद्ध के परिणामों का भोक्ता है जो राज लिप्सा तथा युद्ध मनोवृत्ति का मारा हुआ अनायास उभरकर आधुनिक प्रजा का प्रतीक बन गया है।[3] वह सामान्यतयः युद्ध पीड़ित उस मानव का प्रतिनिधित्व करता है जो इन परिस्थितियों को उत्पन्न करने का कारण न होते हुए भी उन्हें भोगने को विवश है तथा जिनकी नियति सत्ता के हाथों में बन्द है -

"क्योंकि यह
विधाता के नियमों की विडम्बना है।
चाहे न चाहे
किन्तु
शासक की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है,
उसे गलित मूल्यों का दंड भरना पड़ता है।
और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ
मैं प्रजा भी हूँ।"[4]

---

1. "एक कंठ विषपाई" - पृ:77
2. रमेश गौतम - "समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" - पृ:113
3. "एक कंठ विषपाई" - आभार कथा
4. वही - पृ: 49

विष्णु के अनुसार वह युद्धोपरान्त उग गई संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों का एक भग्न-प्राय स्तूप है[1] जिसका समस्त जीवन भूख शब्द में सिमट गया है -

तुम भी बुभुक्षित हो
मैं भी बुभुक्षित हूँ
हम सब बुभुक्षित हैं
ये सारी दुनिया बुभुक्षित है।[2]

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में जन साधारण को अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना कठिन कार्य है। शासक वर्ग के लोग व्यक्ति की पीड़ा को समझने में एकदम असमर्थ हैं। नाटककार ने सर्वहत के माध्यम से शासन की चक्की के पाटों में पिसते जन सामान्य की मर्मान्तिक कराहट और घायल होते जीवन को साकार किया है। उसकी आत्मचेतना सामान्य जनता की नियति को प्रभावित करनेवाली शक्तियों और शासक वर्ग के भीतरी इरादों को समझाने की बौद्धिक सजगता उसकी सामान्यता को वैशिष्ट्य प्रदान कर देती है।[3]

युद्ध का दुष्परिणाम सर्वहत को अधिक खटकता है। देवलोक के नेताओं को, जो युद्ध मनोवृत्ति के पोषक हैं, व्यंग्य-बाण छेड़ता है -

कौन कहता है -
यहाँ कुछ भी नहीं है शेष
यहाँ शेष ही तो है सब कुछ
देखो,
ला नगर में ताज़ा
जमा हुआ रक्त है
और सड़ी हुई लाशें हैं
मुड़ी हुई हड्डियाँ हैं

---

1. "एक कंठ विषपायी" - पृ:52
2. वही :71
3. महावीर सिंह चौ (नई कविता) पृबंध चेतना" - पृ:13

क्षत-विक्षत तन हैं
और उन पर भिन्नाते हुए
चीलों और गिद्धों के झुण्ड
और मक्खियाँ हैं।[1]

वह राज लिप्सा तथा युद्ध मनोवृत्ति के मारे हुए एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है जो आधुनिक प्रजा का प्रतीक बन जाता है।[2] मूलतः सर्वहत के चरित्र में युद्धोपरान्त विकसित हुई विभीषिका से युक्त वातावरण का संत्रास, ह्रासोन्मुखी संस्कृति के बीज और सामाजिक नैतिक विघटित जीवन मूल्यों का भय व्यक्त है।

संसार के मंच पर व्यवस्थित जीवन बितानेवाले व्यक्ति न्याय चाहनेवाला होता है, चाहे छोटे हो अथवा बड़ा। आज की न्याय व्यवस्था पर सर्वहत का तीखा व्यंग्य ज़हरीली दंश की भाँति है। -

काश!
यदि मुझे पता होता कि
साधारण लोगों को न्याय नहीं मिलता
तो मैं रक्तपात की बात छोड़ देता।[3]

सर्वहत एक ऐसे शाश्वत सत्य से गुज़र रहे हैं जिस सत्य से शासक वर्ग कतराते हैं, संघर्ष करने से बचते हैं। इन्द्र शंकालू शासक के रूप में चित्रित है तो वरुण और कुबेर व्यक्तिगत स्वार्थों के प्रतीक हैं। राजनीतिक सत्ता और प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए शंकर के विरुद्ध युद्ध करने में भी वे हिचकते नहीं। -

हाँ, युद्ध के सिवा
अब कोई भी विकल्प अवशेष नहीं है।
महादेव शिव शंकर अपनी पूर्व-नियोजित
डाकिनियों शाकिनियों, प्रेतों और गणों की
सेना लेकर

---

1. "एक कंठ विषपाई" - पृ:45
2. "नया प्रतीक" मई 1976
3. "एक कंठ विषपाई" - पृ:114

देवलोक की सीमाओं पर चढ आये हैं
प्रभु!
आज्ञा दें,
महादेव शंकर का पूजन अब -
युद्धस्थल में ही होगा।

ब्रह्मा युद्ध को सामूहिक आत्मघात मानते हैं। उनका तर्क यह है कि प्राणों का बलिदान सत्य के लिए किया जाय, युद्ध के लिए नहीं -

यदि तुम को जय ही अभीष्ट है
अपनी ओर सत्य को खींचो,
प्राणों की आहुति युद्ध के नहीं
सत्य के लिए होती है।[1]

ब्रह्मा की निष्क्रियता स्वातंत्र्योत्तर भारत की नेताओं की निष्क्रियता ही व्यक्त करती है। "एक कंठ विषपाई" का सृजन भारत पर चीन के आक्रमण के पश्चात् हुआ है। चीन के अकस्मात आक्रमण ने भारत के नेताओं को युद्ध की चुनौती स्वीकार करने तथा सेना को युद्ध के लिए आदेश देने से इनकार कर दिया। वे युद्ध के बदले शांति, अहिंसा तथा पंचशील तत्वों पर अडिग रहे। जिन नेताओं ने अपने मस्तिष्क के चारों ओर पंचशील, शंति और अहिंसा के वायव्य आदर्शों का मकड़जाल बुनकर अपने देश को वास्तविक समस्याओं के व्यावहारिक साधनों की दिशा में अग्रसर होने के अयोग्य बना दिया था, उनके लिए युद्ध की चुनौती को स्वीकार करने के पक्ष में निर्णय लेना दुष्कर था।[2]

सारांशत: "एक कंठ विषपाई" वर्तमान समाज की टूटी-फूटी मान्यताओं से उत्पन्न विकृतियों, मानव होते हुए भी पूँजीवादी मनोवृत्ति, शासकीय अधिकार, सुख की मादकता से उत्पन्न मोहान्धकार, काल की चिरंतन शाश्वत सत्यता और युद्धोपरांत उत्पन्न विभीषिकाओं और स्थितियों का मूर्त रूप है। साथ ही जर्जर रूढ़ियों से ग्रस्त परंपराओं से चली आयी मुक्ति की गाथा भी है।[3]

---

1. "एक कंठ विषपाई" - पृ:117
2. डॉ. हरिचरण शर्मा चिंतक - "दुष्यंतकुमार और उनका साहित्य" - पृ:317
3. रमेश गौतम - "मूल्यांकन और मूल्यांकन" - पृ:65

तरुण मन की चपलता -

तारा. ~~भगवतीचरण वर्मा~~

जब जीवन में तृष्णा प्रबल हो जाती है और पाप की वासना निरंकुश हो जाती है तो व्यक्ति अपना विवेक खो बैठता है। वैभव, सुख, ऐश्वर्य और भोग के चंद क्षणों में ही जीवन की सार्थकता वह पाता है। भ्रान्ति की दुनिया में विचरण करनेवाला ऐसा व्यक्ति यह सत्य बिलकुल भूल जाता है कि वासना ही जीवन के अधःपतन का मूल है और इन वासनाओं के प्रबल हो जाने पर इसका दमन करना उसका अपना कर्तव्य है। अकसर चंचल चित्तवाला व्यक्ति ही इस वासना का शिकार बन जाता है। मन की चंचलता व्यक्ति को गुमराह कर देती है, उचित-अनुचित का भेद समझने में उसे अक्षम बना देती है। तरुण मन की चंचलता कुछ खतरनाक है। वह कभी नहीं सोचता कि यौवन की मादकता क्षणिक है। यौवन के जोश में वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है। यौवन के प्रभात में ऐसी चपलता की शिकार बनी एक नारी - तारा - को भगवतीचरण वर्मा ने अपने गीति नाट्य के लिए केन्द्र बिन्दु बनाया।

गुरु पत्नी होते हुए भी तारा के अन्तर्मन में एक चपला नारी बैठी हुई है। पति की सेवा शुश्रूषा करते वक्त भी उसका मन बेचैन है और वह वासना के पीछे भटक रही है। वह असमंजस में पड़ी रहती है कि वह किसकी आराधना करे - अपने स्वामि के पूज्य चरण रज की या प्रेम की। उसका वासना तप्त हृदय चाहता है कि पावन प्रेम के अनन्त संगीत में अपने ममत्व को भूलकर मग्न हो जाये।[1] बृहस्पति अपनी पत्नी के मन के द्वन्द्व को समझ लेता है और उसे समझाने का परिश्रम करता है - मृगतृष्णा सा यह संसार असार है। भ्रान्ति के राज्य में वासना की प्रधानता है। अतः इसका दमन करना ही हमारा कर्तव्य है।[2] पति का उपदेश उसे चिन्तित कराता है और पति से शान्ति की भीख माँगती है -

नाथ शान्ति दो, यही विनय है शान्ति दो,
मनोवृत्ति की चंचल गति है क्या करूँ ?

---

1. भगवतीचरण वर्मा = मेरे नाटक - पृः160
2. वही - पृः160

कर्मक्षेत्र है शुष्क, तर्क भ्रम जाल है
है केवल अवलम्ब आप के चरण में।[1]

तप-साधना की शुष्क भूमि पर तारा का यौवनयुक्त रूप अतृप्त हो उठता है। लेकिन बृहस्पति के शिष्य चन्द्रमा के आते उसके मन में नया उमंग भर जाता है। वह वासना तृप्ति की आकांक्षी है। अपने मन में प्रति-पल उठनेवाली वासनाओं को दबाने की कोशिश करने के बावजूद भी वे दब न पातीं। प्रेमोन्मत्त उसका मन प्राणनाथ के आलिंगन में बद्ध होना चाहता है। कर से कर मिलाकर उर से उर मिलाकर एक प्राण हो जाना चाहता है। पति का शिष्य जब उसे "माता" कहकर संबोधन करता है तो वह उसे खलता है -

माता! माता! यह भावना असह्य है
मैं माता हूँ और शिष्य तुम पुत्र हो![2]

तारा में वासना की ज्वाला इतनी तीव्र होकर धधक रही थी कि प्रथम दृष्टि में ही शिष्य चन्द्रमा उसका अन्दाज़ा लगा सकता है। अपनी गुरु-पत्नी पर दृष्टि फेरने से उसकी आँखें झंप जाती हैं और हृदय वेग से धड़कने लगता है। अपने आप से वह प्रश्न कर रहा है -

तारा गुरुपत्नी तारा तुम कौन हो?
धूम रहित तुम अग्नि शिखा की ज्वाला हो,
उथल पुथल हो, तुम भीषण भूचाल हो,
अरे कौन हो सुन्दरता की जाल हो
कर्म क्षेत्र के पथ पर कर्कश काल हो,
गुरुपत्नी! गुरुपत्नी हो मायाविनी!
अलसाई आँखें, मदमाती चाल हो!
तुम उमंग की उल्लसित उच्छ्वास हो![3]

---

1. मेरे नाटक - पृ:161
2. वही पृ:165
3. वही पृ:165

एक दिन के लिए गुरु बृहस्पति अपने आश्रम का देख-भाल शिष्य पर छोड़कर रात में चला जाता है। इस अवसर पर चन्द्रमा-तारा की भेंट होती है और वह तारा को पाप-पुण्य की व्याख्या - प्रकृति स्वयं है, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं[1]- समझाता है, जिसे गुरु ने पढ़ाया था। उनका यौवन नैतिक सीमाओं को तोड़कर अविराम प्रवाह में बह जाना चाहता है। चन्द्रमा उसे नर-नारी के शाश्वत संबंध को समझाता है और तारा के धर्म भीरू मन पर विजय प्राप्त कर लेता है। अंत में तारा वासना के प्रवाह में सुखमय पाप के लिए आत्मसमर्पण कर लेती है -

यदि है धर्म-मार्ग पर ही करुणा व्यथा,
तो फिर आओ चलें पतन को ही चलें,
अगर पाप में ही सुख है, तो पाप ही
हम दोनों बन जायें, एक होकर रहें
अलग न हों हम, और नरक भी स्वर्ग हो।[2]

बृहस्पति का आश्रम पर लौटते समय आश्रम को शून्य देखकर वह क्रुद्ध हो जाता है। बुलाने पर भी पत्नी को पास न आते देखकर उसे शंका उत्पन्न होती है और वह अपने योगबल से सब कुछ जान लेता है। वह क्रुद्ध होकर अपने कृतघ्न शिष्य को नित्य घुल-घुल मरने का तथा पापिनी पत्नी को प्रेमी के साथ विचरण करके उसके नाश को देखते रहने का शाप देता है।

चन्द्रमा तथा तारा के प्रेम प्रसंग में आज की वासना-तप्त नारी की मानसिक स्थिति का पुट मिलता है जो अपने पति के रहते किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती है। गुरु पत्नी तारा के मन की चंचलता, उसकी द्विधाग्रस्त मनःस्थिति, अपने मन पर विजय न पा सकने की उसकी असफलता ये सब इस वैज्ञानिक युग की असंख्य युवतियों के मन की अनिश्चात्मक स्थिति से बिलकुल मेल खाती है। नारी चरित्र का कमज़ोरी पक्ष पारिवारिक विघटन के एक मुख्य कारण के रूप में हम देखते हैं। पति-पत्नी - इन दोनों के बीच के रिश्ते में इसलिए दरार पड़ जाती है कि

---

1. मेरे नाटक - पृ:162
2. वही - पृ:169

उनमें आत्मीयता का अभाव है। ऐसे एक समाज जहाँ प्रतिदिन मानव मूल्य लड़खड़ाते रहते हैं, वहाँ तारा जैसी नारियों की संख्या बढ़ने की ही संभावना है।

यौवन की मादकता को शाश्वत समझने की भूल के कारण तारा का जीवन अशान्तिमय हो जाता है। उसकी मनोकामना की पूर्ति तो होती है सही, लेकिन उसकी खुशी शाश्वत नहीं। व्यक्ति की भलाई के लिए समाज ने जिन नियमों को बनाया है, उनको चन्द क्षणों की खुशी के लिए तोड़नेवाले का मन अपराध बोध से युक्त होने के कारण सदैव बेचैन रहता है। प्रेमी के प्रति आकर्षण और पति के प्रति कर्तव्य इन दोनों के बीच झूलनेवाली तारा का बेचैन मन अपने पति से इसलिए शांति की भीख माँगता है।[1]

पाप-पुण्य को लेकर गुरु-शिष्यों में जो बातचीत चलती है उसके द्वारा संसार के कुछ शाश्वत नियमों पर भी प्रकाश डाला गया है। बृहस्पति शिष्य को समझाता है कि इच्छा और वासना जीवन के दो अभिन्न अंग है। वासना ही जीवन में मनोवृत्ति को प्रेरित करती है। यह मनोवृत्ति आकांक्षा का आधार है। आकांक्षा प्रकृति के उस अमिट नियम-परिवर्तन- का मूल है। यों गुरु वासना को प्रकृति का अंश ही मानते हैं। मन में स्वाभाविक रूप से उठनेवाली वासना को दबाना उचित नहीं। उसकी तृप्ति हमें अवश्य करनी है। लेकिन तृप्ति का साधन उचित होना चाहिए। तृप्ति का अनुचित साधन चुनने से ही वासना पाप बन जाती है।

बृहस्पति द्वारा चन्द्रमा तथा तारा को शाप देने का प्रसंग नाटककार की अपनी मौलिकता है। इसमें काल्पनिकता का पुट मिलता है तो भी इसमें यथार्थ की संभावना है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी के प्रेमी के साथ चले जाने पर उसको क्षमा न कर पाता, उसके प्रति कटुवचन कहना स्वाभाविक है।

तारा और चन्द्रमा के जीवन का अभिशाप इस तथ्य को साबित करता है कि क्षणिक सुख की खोज में भटकनेवाले पतन की गहरी खाई में अवश्य गिर जायेंगे।

****

---

1. मेरे नाटक - पृ:16।

अध्याय-6

पौराणिक तत्वों की व्याख्या -

युगीन संदर्भ में

अध्याय-6

पौराणिक तत्वों की व्याख्या - युगीन संदर्भ में

हर एक साहित्यिक विधा में परिवेश के प्रति लेखक की प्रतिक्रिय की अभिव्यक्ति है। परिवेश निरपेक्ष लेखन या रचना का कोई मूल्य ही नहीं होता। हर सर्जन के पीछे जो दृष्टि होती है वह युगीन परिस्थितियों और चेतनाओं के परिवेश में जीवन सत्यों को पहचानने की शक्ति प्राप्त करने से मिलती है। यह युगीन चेतना हर युग की अपनी-अपनी होती है। प्रत्येक युग का अपना संघर्ष, अपनी समस्याएँ और अपना समाधान होते हैं। लेखक युग के मूल्यों के अधीन हैं। इसके लिए दिनकर ने वाल्मीकि और भवभूति का उदाहरण दिया है।[1] उनकी राय में त्रेतायुग से लेकर आज तक रामकथा पर जो कुछ लिखा गया, वह एक ही मूल्य के अधीन नहीं। वाल्मीकि की दृष्टि में राम द्वारा शम्बूक की हत्या धर्म का ऊँचा दृष्टान्त था। लेकिन यही कथा सातवीं सदी में जब भवभूति लिखने लगे तो उस समय का परिवेश और मूल्य वाल्मीकि के समय के परिवेश और मूल्य से भिन्न था। इसलिए उन्होंने राम के मुँह से ही राम की निन्दा करवा दी। "उत्तर रामचरितम्" में जब राम समाधि में बैठे हुए शूद्र मुनि शम्बूक का वध करने को जाते हैं तब राम का हाथ ही नहीं उठता है। अतएव वे अपने हाथ को संबोधित करके कहते हैं -

"हे हस्त दक्षिण, मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न
सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते?"[2]

अतः स्पष्ट है मूल्य परिवर्तन का प्रभाव साहित्यकारों पर स्वाभाविक रूप से पड़ता है।

---

1. रामधारी सिंह दिनकर "आधुनिक बोध" - पृ:49-50
2. उत्तर रामचरितम् अंक - 2, श्लोक - 10

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय साहित्यकार की चेतना में जो परिवर्तन आया उसका मूलाधार नवीन भावबोध और संवेदना का बदला हुआ स्तर है। उन्नीसवीं सदी से बीसवीं सदी की ओर की भारत की यात्रा आस्था से अनास्था की ओर की यात्रा है। बीसवीं सदी युगान्तरों तथा परिवर्तनों की सदी है। इस शताब्दी में साम्राज्यवाद ने दो विनाशकारी महायुद्ध छेड़कर मानवराशी को झुलसा दिया, करोड़ों मनुष्य के रक्त से होली खेली। महायुद्ध के विनाश से मनुष्य का आत्मविश्वास और विवेक दम घुटने लगे। आतंक भय, अजनबीपन, अनास्था, ह्रासोन्मुख मनोवृत्ति इत्यादि ने मानव जीवन को कुंठित-अपराधग्रस्त बना लिया। इन महायुद्धोत्तर परिस्थितियों का सर्वाधिक प्रभाव यूरोप पर पड़ गया जिसने वहाँ के साहित्य में युगान्तर कर दिया। भारत में युद्ध का प्रभाव इस रूप में न आकर गरीबी और बेरोजगारी के रूप में आया। यह शताब्दी विभिन्न मानव मूल्यों, युगीन मान्यताओं, विरोधी परंपराओं तथा विशृंखलित प्रयोगों के विराट संक्रमण की शताब्दी है। इस काल खंड में हुई वैज्ञानिक उन्नति भी एक युगान्तरकारी घटना थी। वैज्ञानिक उन्नति का दूसरा परिणाम यह था कि बुद्धिवादी दृष्टिकोण का विकास। कमनीय कल्पनाओं और रोमानी भौतिकता को छोड़कर यथार्थ की भाव-भूमि पर खड़े होकर साहित्यकार अपने परिवेश की समस्याओं को परखने लगा। बौद्धिक और चिन्तन के धारातल पर समस्याओं का समाधान खोजने लगा। डॉ. रामदरश मिश्र ने इसकी ओर संकेत किया है कि आधुनिक काल में हम देखते हैं, हर क्षेत्र में भावात्मक मान्यता श्रद्धा और धार्मिक प्रतीती के स्थान पर बौद्धिक प्रयोग हो रहे हैं। काल्पनिक रोमान्स, विह्वल भावुकता, आदर्शवादिता, अलौकिकता आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता, यथार्थवादिता और बौद्धिकता की प्रधानता दिखाई पड़ती है।[1] स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी के नाटककारों ने भी अपने-अपने ढंग से यथार्थ को पकड़ने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने पौराणिक आख्यानों को नवीन भाव बोध से संपृक्त कर मानव मूल्यों के संधान की कोशिश की है। जब उनकी रचना मानसिकता ने एक नया मोड़ लिया तो उनकी संवेदना ऐसे विषयों में रमने लगी

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र "आज का हिंदी साहित्यः संवेदना और सृष्टि"- पृः15,17.

जो व्यक्ति और समाज की जीवन्त समस्याएँ थीं। युगीन जीवन संदर्भों को विभिन्न पार्शों में उलट-पुलट कर देखने की कोशिश की। प्राक् स्वातंत्र्य युग में आदर्शवाद की जो घनी चेतना नाट्यकारों के मन में छाई हुई थी वह लुप्त हो गयी। पुरानी परंपरा की लीक से हटकर एक नया मार्ग ग्रहण करने की प्रवृत्ति नाटककारों में दृष्टि-गत होने लगी। पूर्ववर्ती नाटककारों के जैसे गौरवमय अतीत का यशोगान करना उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। पुराण का उपयोग इस सीमा तक किया गया जिस सीमा तक वे अपने युग को व्यक्त कर सके। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि स्वातंत्र्यो-त्तर नाटककारों ने पौराणिक तत्वों का युगीन संदर्भ में किस प्रकार मूल्यांकन किया है।

1. पुराण और युद्ध :-

भौतिक समृद्धियों एवं सारी सहूलियतों से भरपूर वैज्ञानिक युग में जीनेवाला आदमी युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त है। यह विभीषिका उसे अशांत और बेचैन बना देती है। विगत दो महायुद्धों ने मानवता के उच्च नैतिक मूल्यों, आस्था, आशा एवं आस्तिकता का अवमूल्यन कर दिया। इसलिए एक तीसरे विश्व युद्ध की आशंका उदित होते ही आदमी चौंक उठता है। युद्धों में प्रयुक्त अणु अस्त्रों की भयंकरता ने मानव समाज को भय अनिश्चितता एवं निराशा दी है। दो विश्व युद्धों के कारण समस्त विश्व के दर्शन, जीवन मूल्यों, आस्थाओं, विश्वासों तथा अन्य अनेक सांस्कृतिक मान्यताओं पर प्रभाव पड़ा। युद्धोत्तर काल में हमारे विश्वास, परंपराओं, जीवन मूल्यों, मान्यताओं आदि में तीव्र गति से क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। युद्ध के बाद सांस्कृतिक विघटन की समस्या मात्र भारत में ही नहीं बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के सामने रही है। "युद्ध की ताण्डव लीला समाज की एकात्मानुभूति को त्रस्त कर एक ओर वैयक्तिक सीमाओं का हनन करती है तो दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं को विकृत और जर्जर कर देती है। इन पाटों के मध्य मानवीय गौरव, जीवन की सरलता, गतिमान आस्थाएँ विच्छिन्न होकर कुंठाओं के वक्ष से लिपट जाती हैं।[1] युद्धोपरान्त उपजनेवाली ह्रासोन्मुख संस्कृति व्यक्ति की चारित्रिक निर्बलता का

---

1. सुरेश गौतम, वाणी गौतम : "त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना" - पृ:।।

कारण बनती है और वर्तमान जीवन की बहुत सी समस्याओं का मूल कारण यही चारित्रिक निर्बलता है। वर्तमान का यह बहुत बड़ा विरोध है कि युद्ध को टालकर शांति स्थापना के लगातार प्रयत्नों के बावजूद शांति कहीं हम से बहुत दूर होती जा रही है। युद्ध के हृदय विदारक विनाशकारी परिणामों के कटु अनुभव भोगते हुए भी मनुष्य अपनी बर्बर एवं पाशविक ताकतों के विकास में लगा है। स्वयं को सुसंस्कृत और सभ्य कहनेवाले मनुष्य की आदिम पाशविकता और हवस के संबंध में इलाचन्द्र जोशी का कथन बिलकुल ठीक है कि "राष्ट्र के उत्थान पतनों, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियों तथा विश्वव्यापी युद्धों के पीछे भी मानव जाति के सामूहिक अचेतन में स्थित आदि कालीन मूल प्रवृत्तियों की शक्ति ही अज्ञात ढंग से कार्य करती है।[1]..... युद्ध की प्रवृत्ति लाखों वर्षों के मानवीय विकास और ह्रास के बावजूद अभी तक उसी ताज़गी के साथ मानव आत्मा के भीतर पाई जाती है जिस रूप में वह आदिम काल में बर्बरतम मनुष्यों में विद्यमान थी।[2] बहुत से विचारकों एवं साहित्यकारों ने विश्व युद्ध के साथ-साथ एक ऐतिहासिक युग की ही नहीं अपितु सांस्कृतिक आध्यात्मिक युग की समाप्ति ही बतायी है। डॉ. धर्मवीर भारती का कहना उचित है कि दूसरे महायुद्ध के समय से ही मानवीय अन्तरात्मा सर्वथा निःशक्त होकर विलुप्त होती जा रही थी या यदि रह भी गयी थी तो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे यह अन्तरात्मा केवल कुछ अव्यावहारिक अन्तर्मुख स्वप्नदर्शियों का आवश्यक मानसिक उद्वेग बनकर रह गई है, जिसका बाह्य यथार्थ से कोई मेल नहीं बैठ पाता।[3]

मानवता के उच्च नैतिक मूल्यों को अवमूल्यन कर देनेवाली युद्ध विभीषिका का सफल अंकन आधुनिक काल में विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं की रचनाओं में हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर नाट्य साहित्य की पौराणिक धारा भी युद्धोत्तर कालीन पस्ती-पराजय, प्रतिशोध, रक्तपात, अंध-स्वार्थता विवेक-शून्यता आदि को छूती है।

भारती ने "अंधायुग" में युद्धोपरान्त उग आयी जीवन की विषमत तथा विसंगतियों को आज की युद्धोपरान्त स्थितियों तथा विकृतियों से संबद्ध किया है

---

1. इलाचन्द्र जोशी "प्रेत और छाया" - भूमिका - पृ:24
2. वही "मुक्तिपथ" - पृ:260
3. धर्मवीर भारती "जीवन मूल्य और साहित्य" - पृ:20

इसके लिए उन्होंने महाभारत युद्ध की घटनाओं, पात्रों तथा प्रसंगों को माध्यम बनाया। कवि ने आरंभ में ही युद्धोपरान्त परिस्थितियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहा -

"युद्धोपरान्त
यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों पक्षों में।
सिर्फ कृष्ण में है साहस सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक,
वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अंधे
पथ भ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।[1]

जीवन में जो भी सत्य एवं सुन्दर था उसे युद्ध की विभीषिका ने नष्ट कर दिया। महाभारतोत्तर परिणामों के माध्यम से युद्ध के परिणामों, विजय के खोखलेपन और युद्ध की विषैली अग्नि में झुलसी मानवता का हृदय विदारक चित्र प्रस्तुत किया है।[2] युयुत्सु ने सत्य को सुरक्षित रखने के लिए अपने परिजन और राज्य को छोड़कर पांडव पक्ष को अपनाया। लेकिन युद्ध के उपरान्त उसे उपेक्षा का पात्र बनना पड़ा। सत्य के पक्षधर की इस परिणति ने उसे अधिक जर्जर कर दिया।

अंतिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो

---

1. अंधायुग - पृ:10
2. श्रीमती रीता कुमार : 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक:मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में पृ:30

अथवा असत्य का।[1]

फलस्वरूप उसे अपना जीवन नष्ट करना पड़ा आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। जिस युग में सत्य का पक्षधर अन्धा प्रेत बनकर भटक रहा हो उस युग में सामान्य व्यक्ति के जीवन का कोई आधार नहीं होगा। युयुत्सु यद्यपि विक्षुब्ध है तो भी वह विवेक नहीं खो बैठता। श्री. लक्ष्मीकांत वर्मा के मतानुसार जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों की विक्षुब्धता ही उसकी कथा में विवेक को प्रकाश दे सकती है। इसलिए उसका स्वर सशक्त निराशा का स्वर नहीं। उसमें खिन्नता का दोष नहीं, उसमें विष नहीं वरन् प्रकाश की, सत्य को स्थापित करने की तड़प है।[2]

आधुनिक युग का संकट यह है कि यदि कोई व्यक्ति नैतिक बनने का प्रयत्न करता है तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है और विवश होकर न चाहने पर भी उसे अनैतिकता और बर्बरता का वरण करना पड़ता है। इस प्रकार आधुनिक संवेदना मनुष्यता एवं बर्बरता में विभाजित हो रही है। इस अन्तर्विरोध को, मानवता एवं बर्बरता को अश्वत्थामा के माध्यम से भारती ने यहाँ वाणी दी है। अश्वत्थामा युद्ध की विभीषिका का बर्बरतम परिणाम है। युद्ध की बर्बरता तथा उसके विवेक को नष्ट कर उसे घृणा एवं विध्वंस का प्रतिरूप बना दिया है। उसकी पशुता एवं बर्बरता ने पांडव नागरी को ध्वस्त कर दिया। कौरव भूमि की अभिशप्त भूमि में प्रवेश कर उदयशंकर भट्ट[3] और लक्ष्मीनारायण मिश्र[4] ने भी प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा के प्रतीक बने अश्वत्थामा के मानसिक संघर्ष का उद्घाटन किया है। उसके अन्दर की पाशविकता आधुनिक मानव की पाशविकता है - उस आधुनिक मानव की जिसके अन्दर निरन्तर एक युद्ध-वृत्ति विद्यमान रहती है।[5] उसके अन्दर की कुत्सता ने उसे विध्वंसकारी ब्रह्मास्त्र छोड़ने को प्रेरित किया। ब्रह्मास्त्र को वापस लेने का व्यासजी का आदेश[6] आधुनिक वैज्ञानिक युग में अपनी

---

1. अंधायुग - पृ:57
2. लक्ष्मीकांत वर्मा "नई कविता के प्रतिमान" - पृ:75
3. अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीतिनाट्य पृ:112, 141
4. "अपराजित" - पृ:207
5. त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना - पृ:19
6. अपराजित - पृ:140-141; अंधायुग-पृ. 94-95

शक्ति प्रदर्शित करने के लिए अणुबम का दुरुपयोग करनेवाली शक्तियों से नाटककार की चेतावनी है। ब्रह्मास्त्र से उत्पन्न होनेवाले विनाशकारी एवं विध्वंसकारी दुष्परिणामों की ओर यह नाटक जो संकेत कर रहा है वह प्रकारान्तर से अणुशक्ति के प्रयोग से उत्पन्न होनेवाली विकृतियों और विनाश की तांडव लीला की आन्तरिक और बाह्य पृष्ठभूमि है।[1] महाभारत युद्ध में युद्ध के दुष्परिणामें से उपजी हुई प्रतिक्रियाओं का संकेत भी नाटक में है। युद्ध के उपरान्त होनेवाली ह्रासोन्मुख मनो - वृत्तियों की आलोचना युद्ध की निसारता की ओर संकेत करते हुए युधिष्ठिर कहता है -

"ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीत कर
अपने को बिलकुल हरा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है .....[2]

उदयशंकर भट्ट ने भी युद्ध की विनाशक लीला से विक्षुब्ध होकर कृतवर्मा और कृपाचार्य की वाणी[3] में युद्ध की कटु आलोचना की है।

युद्ध परस्पर विरोधी विचारों के आंतरिक संघर्ष की परिणति है। युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न संत्रास का वातावरण, टूटे हुए सामाजिक नैतिक मूल्य, जन सामान्य की पीड़ित चेतना, परंपराओं की बासी सड़ान्ध आदि कुछ ज्वलंत प्रश्न हैं जो एक विवेकशाली के मन को निरन्तर नोचता रहता है। इस प्रकार विघटित होते हुए ह्रासोन्मुखी जीवन मूल्यों को देखकर दुष्यन्तकुमार के मन में यह प्रश्न उठा कि क्या युद्ध अवश्यंभावी हैं? इन प्रश्न का उत्तर है उनका "एक कंठ विषपाई"। युद्ध की समस्या को अपने ढंग से व्यक्त करते हुए कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है - एक व्यक्ति - दक्ष - के मिथ्या अहं के हेतु भीषण नर संहार हुआ। ऐसा नर संहार जो न्याय नैतिकता और विवेक से कोसों दूर था। युद्ध संबंधी दुष्यंतकुमार

---

1. त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना - पृ:20
2. अंधायुग - पृ:104
3. अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य - पृ:112

की मान्यता विष्णु के शब्दों में मुखरित है -

युद्धोपरान्त उग आई
संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों का
एक स्वर है -
भग्न प्रायः पथ हारा।[1]

इन्द्र, वरुण, कुबेर तथा अन्य विद्रोही प्रजा जन युद्ध के लिए ब्रह्मा को उकसाते हैं। ब्रह्मा के अनुसार बिना किसी अर्थ के किया गया युद्ध एक सामूहिक आत्मघात है और इस सामूहिक आत्मघात को आत्मसुरक्षा कभी नहीं कहा जा सकता। वास्तविक विजय के लिए सत्य का अपने पक्ष में होना आवश्यक है -

यदि तुम को जय ही अभीष्ट है
अपनी ओर सत्य को खींचो
प्राणों की आहुति
युद्ध के लिए नहीं सत्य के लिए होती है।[2]

ब्रह्मा के इस नैतिक सत्य के संधान का अतिक्रमण करते हुए विष्णु, शिव के प्रति प्रणाम बाण छोड़ते हैं और कहते हैं कि शिव इसे चाहे प्रणाम समझे अथवा युद्ध की चुनौती हमें विजय ही मिलेगी। विष्णु के इस आयोजन से कवि ने मानव रक्षा और अहिंसा की स्थापना के लिए प्रतिद्वन्द्वी की युद्ध विषयक चुनौती का समर्थ उत्तर देने का संदेश दिया है।[3]

युद्ध चाहे पुराण काल में घटित हुए हो अथवा आधुनिक काल में, विजयी और विजेता दोनों पक्षों के मानवीय मूल्यों में विघटन अवश्य होता है। साधारण जन ही इस दुष्परिणाम का शिकार बनेगा। शिव की तांडव लीला के - दुष्परिणामों का एकमात्र भोक्ता सर्वहत है। "वह युद्धोपरांत दारुण विभीषिकाओं

---

1. एक कंठ विषपाई - पृ:52
2. वही - पृ:117
3. पुराख्यान और कविता - पृ:130

से निर्मित परिस्थितियों से निरन्तर जूझती - टकराती, पीड़ित और क्षुब्ध उस जनता का साकार प्रतिरूप है जो निरंतर जीवन के संत्रास को झेल रही है।[1] सर्वहत की व्यथा उसके शब्दों में गूँज उठती है -

"अरे प्रजा हम थे
हमने उफ तलक नहीं की
शासन के गलत-सलत झोंकों के आगे भी
फसलों से विनयी हम बिछे रहे निर्विवाद
हमारे व्यक्तित्व के लहलहाते हुए
खेतों से होकर
दक्ष ने बहुत सी पगडंडियाँ बनाई
कर दी फसलें बरबाद।[2]

सर्वहत के माध्यम से शासकों की निर्ममता और हृदयहीनता पर कठोर व्यंग्य किया गया है। शासन की चक्की के पाटों में पिस्ते हुए जन सामान्य व्यक्ति की मर्मान्तक कराहट और घायल होते जीवन को सर्वहत के माध्यम से ही रचनाकार ने साकार किया है, मानों सर्वहत ऐसी निराश्रित जनता का जीवित अभिशाप है, जो कोड़ बनकर समाज को क्षार करता जा रहा है।[3] अतः स्पष्ट है कि पौराणिक युग के आम आदमी के प्रतिनिधि सर्वहत की पीड़ा आधुनिक मानव की पीड़ा को उद्घाटित करती है। सर्वहत के चरित्र के द्वारा दुष्यंतकुमार ने आधुनिक जीवन की बहुत सी क्रूरताओं और विसंगतियों को उजागर किया है।

2. <u>पुराण और राजनीति</u> :-

पुराण को आधार-शिला पर वर्तमान राजनीतिक विसंगति और वेदना को उकेरने का प्रयास भी नाटककारों ने किया है। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक युग में शासक अपनी निरंकुश सत्ता को कायम रखने के-

---

1. त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना - पृ:200
2. एक कंठ विषपाई - पृ:110-111
3. त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना - पृ:192

लिए जनता की मूढता और उसके अज्ञान का लाभ उठाते हैं। अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए सत्ता, अर्थतंत्र और धर्म की ज़बरदस्त तकतें सदियों से संयुक्त होकर आम आदमी को लूटने खसोटने और उल्लू बनाने में लगी रही हैं। वर्तमान राजनीति मूल्यों के खिलाफ है, मूल्यों को विफल कर रही है, मनुष्य और मनुष्य को एक साथ जोड़नेवाले मूल्य - प्रेम, करुणा, सहानुभूति, निडरता, मासूमियत आदि को राजनीति तोड़ रही है। आज राजनीति से नीति का अंश बिलकुल गायब हो गया है। आज कोई भी नेता सेवा नहीं करना चाहता। सेवा के नाम पर जो कुछ भी होता है, वह कुरसी हथियाने की भूमिका पर है। कमलेश्वर के अनुसार - "मेला उठने के तत्काल बाद ही जैसे भिण्डियाँ, सुतालियाँ, बल्लियाँ, तोरण और कल्पनाएँ बिखर और फैल-छितरा जाती है, वैसे ही आज़ादी का यह मेला उठने देर नहीं लगा और चारों तरफ बिखराव, अव्यवस्था और छितराव नज़र आने लगा। धर्म गुरुओं की तरह बड़े नेता अपने शीशमहलों में जा घुसे और आवारा छोकरों की तरह स्थानी और क्षेत्रीय नेताओं ने ध्वंस शुरू किया। यह चकित कर देनेवाला सत्य है कि आज़ादी से पहले के सत्याग्रही नेता एकाएक भ्रष्टाचार, अनाचार और अत्याचार के पक्षधर और भागी कैसे बन गये।[1] कमलेश्वर का यह कथन इसलिए सार्थक लगता है कि राजनीति के क्षेत्र में हम टुच्चे ओच्छे और स्वार्थ चेहरों में ढलते हुए राजनीतिज्ञों को ही देखते हैं। जब एक संवेदनशील लेखक देखता है कि राजनीति के दुष्चक्र में मानव मूल्य टूटते जा रहे हैं तो उन जर्जरित मूल्यों का पुनर्वेषण करना या पुनर्जीवित करना अपना कर्तव्य समझता है।

लेखक इन समकालीन राजनीतिक विद्रूपताओं को पौराणिक संदर्भों से जोड़ता है। माथुर का "पहला राजा" स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनीतिक घटनाक्रम का दस्तावेज़ है। प्रशासनिक अधिकारी होने के कारण राजनीतिक क्षेत्र के विषैले वातावरण को खूब जाँचने परखने का अवसर माथुर को मिला और भोगे हुए यथार्थ का मिथक को आधार बनाकर, सही खाका खींचने का प्रयत्न "पहला राजा" में उन्होंने किया। नाटक के पात्र और प्रसंग वर्तमान जीवन की विरूपता की ओर संकेत करते हैं। महत्वाकांक्षी पुरुष पृथु, अधिकार लोलुप मुनिगण - अत्रि, गर्ग, शुक्राचार्य,

---

1. कमलेश्वर : "नई कहानी की भूमिका" - पृ:।4

जाति व्यवस्था का शिकार बना कवष, धरती को हथेली की तरह जाननेवाली उर्वी आदि अपनी पौराणिक विशिष्टता छोड़कर आधुनिक संदर्भ में ही हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। ये पात्र समकालीन स्थितियों पर ही सीधा टिप्पणि करते हैं। खुद नाटककार का ही दावा है कि पृथु के बहाने भारतीय गणतंत्र के प्रथम प्रधान मंत्री नेहरू के बिंब को ही उतारते हैं। सत्ता, कर्म और काम के मनोवैज्ञानिक आधार पर माथुर ने आधुनिक मानव जीवन के अस्तित्व, संकट और द्वन्द्व को पृथु के पौराणिक चरित्र द्वारा उभारा है। सारे वैभवों से घिरे रहने के बावजूद भी अपने आप को रोगी महसूस करनेवाले पृथु की ऊब, उदासी और भटकाव में आज के मनुष्य की झलक द्वारा आधुनिकता का एक और स्तर नाटक में खुलता है। जयदेव तनेजा ने इसकी ओर संकेत करता हुआ लिखा है - "पृथु पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और संघर्ष को प्रस्तुत करनेवाला जीवन की व्यर्थता की अनुभूति से पीड़ित, फिर भी निरंतर जीवन को अर्थ देने के प्रयास में रत मानव का चित्र प्रस्तुत करता है।[1] नेहरू और उसके मंत्रि-मंडल की राजनीति को आधार बनाकर माथुर ने पृथु और उनके मंत्रि-मंडल का चित्रण किया है।

लाल का कलंकी भी तंत्रकालीन पृष्ठभूमि में राजनीतिक मूल्य-हीनता का नाटक है। अपनी निरंकुश सत्ता को कायम रखने की प्रबल इच्छा रखने-वाले शासकों के अधिपन में शासित प्रजा की पीड़ा, दिशाहीनता अभिशाप आदि भी सामाजिक परिस्थितियों को उजागर करते हैं। अतः तंत्रकाल का पुराण वर्तमान से जुड़ जाता है। समकालीन राजनीतिक पर्यावरण में प्रस्तुत नाटक अपनी अनेक व्याख्याएँ छोड़ता है। प्रश्नहंता सत्ता ने संपूर्ण प्रबुद्ध वर्ग की सप्रश्नता को योजनाबद्ध ढंग से प्रक्षालित किया है, उसे श्वेत-हरित क्रांतियों के प्रलोभनों से या संभावित §१§ युद्ध आतंकों से आक्रांत किया है। ऐसी प्रवंचनाएँ हमारे सामान्य जन को किसी कलंकी अवतरण की निरंतर प्रतीक्षा में दंडित कर गई है।"[2] लाल ने पौराणिक पात्रों और प्रसंगों में आधुनिक संवेदना तलाशने का प्रयास किया है। वे यही कहना चाहते हैं कि तंत्रकालीन धर्म भय, मृत्यु भय, पाप भय, शव साधना किसी कलंकी की प्रतीक्षा आदि

---

1. समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि - पृ:194
2. डॉ. चन्द्रशेखर समकालीन हिन्दी नाटक कथ्य चेतना - पृ:264

वर्तमान में भी है। डॉ. नरनारायण राय की राय में "नाटककार ने यह अनुभव किया है कि अपने यहाँ व्यापक स्तर पर शव साधना ही रही और अब यह रक्त की शुद्धता की दुहाई देनेवाले सुविधा भोगी वर्ग के प्रतीक महत्वाकांक्षी मुनिगण पुराण के ही पात्र नहीं बल्कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के भी पात्र हैं, जिनमें सांप्रदायिकता का विष फैलाकर अपनी स्वार्थ पूर्ति करनेवाले वर्तमान नेताओं की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। एक नाट्य समीक्षक का मत उचित प्रतीत होता है कि "शुक्राचार्य, अत्री, गर्ग आदि गुड़बाजी, विज्ञानबाजी, नारेबाजी, सौदेबाजी की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करेंगे।[1] नाटक में भृगु वंश और अत्रि वंश की आपसी स्पर्धा में वर्तमान दलगत राजनीति और पार्टीबाजी की शोरगुल गूँजता है। अत्री और शुक्राचार्य का मत भेद तत्कालीन नेहरू मंत्रिमंडल के आपसी मत-भेदों को उजागर करता है। नाटक के आधुनिक संदर्भ की ओर संकेत करते हुए डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है "अर्थनीति से ही पृथु को असफलता मिलती है, हर युग का अपना-अपना शुक्राचार्य [illegible] है, जवाहरलाल के मंत्रिमंडल का भी अपना शुक्राचार्य था।"[2] आगे मदानजी ने लिखा है गर्ग, अत्री, शुक्राचार्य, सूत, मागध, पृथु, कवष, सुनीथा, दासी, अर्चना और उर्वी तथा हर पात्र एक अन्योक्ति है, एक संकेत है जिसके माध्यम से नेहरू युग की आधुनिकता का पहला दौर उजागर होने लगता है। इस तरह नाटक में समकालीनता इनके आधार पर उभरने लगती है - योजनाओं की स्थापना, भारत-चीन युद्ध, मंत्रियों के आपसी द्वेष और षड्यंत्र घाटे का बजट या राजकोष का खाली हो जाना देश की एकता का सवाल पूँजीपतियों के बड़े-बड़े घर मुनाफाखोरी, जनता का शोषण, अन्न की कमी, पिछड़ी जातियों का मसला संविधान की शपथ।"[3] निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर मुनि-लोग बाँध के काम में ढील डालने का स्वार्थवश कुचक्र दिखाया गया है वह एक सत्य घटना पर आधारित है। "मेरी जानकारी में कुछ वर्ष हुए बाढ को रोकने के लिए एक बाँध की मरम्मत में एक स्थानीय नेता के दुराग्रह पर इसलिए ढील डाल दी गयी कि अगर अधिक मज़दूर भेजे जाते तो उन स्थानीय नेता की पार्टी के मज़दूरों के वेतन में कमी हो जाती।[4] इस पौराणिक नाटक की आधु-

---

1. दिनमान, 7 सितंबर 1969
2. आधुनिकता और हिंदी साहित्य - पृ:208
3. वही - पृ:208
4. पहला राजा - परिशिष्ट - पृ: 114.

निकता के संदर्भ में डॉ. दशरथ ओझा का मंतव्य भी अवलोकनीय है - "सहस्रों वर्ष प्राचीन महाभारत-कालीन घटना को प्रतीक रूप में रखकर आज के समाजवादी समाज के निर्माण में सहायक विधि विधानों का अनुसंधान नाट्यकार की प्रखर प्रतिभा का परिचायक है। प्रसाद के उपरान्त इस प्रकार का शोधपूर्ण यह प्रथम नाटक है जिसमें आधुनिक समस्या का हल प्राचीन युग के प्रतीकात्मक वर्णन के आलोक में निकाला गया है।"[1] ओझाजी के समान अन्य अनेक आलोचक भी इस मत से सहमत है कि "पहला राजा" का पात्र एवं घटनाएँ पौराणिक होते हुए भी आधुनिक संदर्भ को उभारते हैं।[2] शव साधना, साधना का तंत्र बन चुका है। तंत्र साधना केवल मध्य युग की ही बात नहीं रह गयी है - आज भी है शव साधना के रूप में। समाज और देश के कुछ खास-खास चुने हुए लोग इस प्रजातंत्र युग में भी चाहते हैं कि सत्ता और आधिपत्य-जीवन का नियंत्रण उनके ही हाथों में बना रहे।"[3] अपनी स्वार्थ के लिए प्रजा को आत्मविश्वासहीन और गुमराह करने की भयंकर साजिश रचनेवाले निरंकुश शासक अकुलक्षेम, उसी का स्वतंत्रचेता पुत्र विद्रोही हेरूप अस्तित्व बोध एवं जीवन बोध से शून्य नगर के सीधे-सादे लोग, निरंकुश शासक का सहायक तांत्रिक आदि आज के ही पात्र लगते हैं।

नाटक के पौराणिक प्रसंग से उभरनेवाली समकालीनता की ओर संकेत करते हुए डॉ. रमेश गौतम ने बिलकुल ठीक ही लिखा है "डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का कलंकी मध्य युग की अंध परंपराओं पर आधारित धर्म, तंत्र और प्रजातंत्र के पीछे छिपे राजतंत्र पर आत्मबोध एवं यथार्थ बोध का प्रहार करते हुए दोनों क्षेत्रों में नव युग की नव जागृति का एक सफल प्रतीकात्मक नाटक है।"[4]

---

1. हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास - पृ: 434
2. अ. सुषम बेदी "हिन्दी नाट्य: प्रयोग के संदर्भ में" -पृ: 127
   आ. नरनारायण राय : "आधुनिक हिंदी नाटक एक यात्रा दशक" - पृ: 16
   इ. जयदेव तनेजा : "आज के हिंदी रंग नाटक: परिवेश और परिदृश्य" = पृ: 35
   ई. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ: 61
3. आधुनिक हिंदी नाटक: एक यात्रा दशक - पृ: 20
4. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ: 104

आधुनिक जीवन संदर्भ विशेषकर राजनीतिक जीवन संदर्भों को प्रकट करने में लाल का "सूर्यमुख" भी बहुत सक्षम है। व्यक्तिगत स्वार्थ लिप्सा जनता या प्रजा को अलग-अलग खेमों में बाँट देती है, अलग-अलग दलों में विभाजित कर देती है। उसका परिणाम होगा विभाजित स्वार्थों का युद्ध। कृष्ण के पुत्रों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जो आपसी संघर्ष पैदा हुआ उस संघर्ष में वे द्वारिक के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्णतः भूल गये। उनकी यह भूल द्वारिका के सर्वनाश में परिणत हुई। इस पौराणिक संदर्भ में आज का जटिल सामाजिक यथार्थ भी अंकित किया है। यदुवंशियों के पारस्परिक विरोध एवं विद्रोह के वातावरण में आज की युवा पीढी की दिग्भ्रम तथा आधुनिक शासन व्यवस्था की झलक है। अलग-अलग वंशों शिविरों में बँटकर हिंसा, लूट और व्यभिचार में डूबी सारी नारायणी सेना, नारायणी सेना के भोगवादी यदुवंशी, समुद्र की लहरों में शनैः शनैः डूबनेवाली द्वारिका, नगर में प्रतिदिन बढ़नेवाले रोगियों गुंडों और भिखारियों की संख्या आदि में समसामयिक राजनीतिक विद्रूपताएँ ही प्रतिबिंबित हैं।

"एक कंठ विषपाई के कई प्रसंग भी आधुनिक राजनीति के संदर्भ में खरे उतरते हैं। युद्धोपरान्त होनेवाली दारुण विभीषिका का कटु फल निरीह जनता को भोगना पड़ता है। शासक की भूलों का उत्तरदायित्व प्रजा को वहन करना पड़ता है। एक कंठ विषपाई में युद्ध के उपरान्त हुई प्रजा की करुण स्थिति का अंकन सर्वहत नामक पात्र के माध्यम से कवि ने किया है। कवि के स्वयं के कथानुसार इस काव्य कृति में "राजलिप्सा तथा युद्ध मनोवृत्ति का मारा हुआ सर्वहत नाम का एक नया पात्र समाविष्ट हुआ है जो अनायास उभरकर आधुनिक प्रजा का प्रतीक बन गया।"[1] श्री. लक्ष्मीनारायण शर्मा के मतानुसार "एक कंठ विषपाई" के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य ही वर्तमान की कतिपय प्रजा तांत्रिक और राजनीतिक विषमताओं का प्रस्तुतीकरण है।"[2]

---

1. "एक कंठ विषपाई" - आभार कथा - पृः5
2. "पुराख्यान और कविता" - पृः128

3. पुराण और वर्णव्यवस्था :-

कुन्ती का अवैध पुत्र जिसे लोकलाज के भय से जल में प्रवाहित कर दिया था, हज़ारों वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित और कलंकित कर्ण के सिर पर दुहरा कलंक था। एक तो अविवाहिता कन्या द्वारा त्यक्तय अवैध संतान होने का, दूसरे सूत-पुत्र होने का। सूत-पुत्र होने के कारण द्रौपदी ने स्वयंवर सभा में इसका वरण अस्वीकार कर दिया था।[1] कर्ण के चरित्र वर्णन के बहाने स्वातंत्र्योत्तर नाटककार स्वतंत्र भारत में अब भी मौजूदा जाति-पाँति की भावना की ओर ही संकेत करते हैं। "पहला राजा" के कवष[2] भी कुल गौरव का शिकार बन जाता है। नीच वंश जन्मा अनार्य कहकर मुनियों द्वारा और अपने जिगरी दोस्त द्वारा उसकी उपेक्षा इसी का परिणाम है। कवष का चरित्र यह दिखाता है कि सामान्य वंश अथवा नीच जाति में उत्पन्न होना किसी के लिए सारे जीवन-भर का अभिशाप बनकर न रहेगा। जिस व्यक्ति को पृथु ने अनार्य कहकर उसकी उपेक्षा की थी वही पृथु को ब्रह्मावर्त के उत्थान का मार्ग दिखा देता है और अकाल से देश की रक्षा के लिए बाँध निर्माण की योजना बनाता है। कवष का अवतरण भारत के भावी आदर्श समाज की स्थापना में एक आस्थामय प्रयास है। नीच कुलोत्पन्न होने के कारण एकलव्य भी छला गया।[3] निषाद पुत्र होने के कारण गुरु द्रोण ने उसका शिष्यत्व अस्वीकार कर दिया। द्रोण की यह अस्वीकृति उस समय के हृदयहीन समाज की अस्वीकृति ही नहीं बल्कि आज भी वह समाज मौजूद है। दरअसल कर्ण, एकलव्य और कवष जैसे पौराणिक पात्र इस आधुनिक युग में भी सार्थक लगते हैं क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बयालीस वर्ष बीत जाने के बाद भी भारत की अभिशप्त मिट्टी में जाति-पाँति की विषम वह्नियों में जीवन भर जलनेवाले बहुत से पात्र जीवित रहते हैं।

4. पुराण और नैतिकता :-

पौराणिक आख्यानों का भारतीय संस्कृति से अटूट संबंध है। पुराणों में प्रयुक्त आख्यानों के अंतर्गत नैतिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश निहित

---

1. "मेरे नाटक" - पृ:187
2. पहला राजा' - पृ:27.
3. अशोक वन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य - पृ 94

है। अधिकतर पौराणिक आख्यानों के पीछे कोई खास जीवन दृष्टि है। भारतीय चिन्तन धारा ने पुरुषार्थ या चार जीवन मूल्यों को जीवन का साध्य स्वीकार किया है।[1] मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर बल देनेवाली भारतीय चिन्तन धारा के संबंध में डॉ. एस. राधाकृष्णन की मान्यता है - "भारतीय इतिहास के प्रारंभ से ही मानव चेतना की निश्चित दिशा निर्द्धारित कर दी है। अपना अस्तित्व बनाये रखना, आत्मा की निर्मलता को बनाये रखना ही जीवन का लक्ष्य है। मानव केवल भौतिक संपत्ति और ज्ञानोपार्जन से ही संतुष्ट नहीं रह सकता। उसका उद्देश्य है - आत्मसाक्षात्कार करना।"[2]

हम यह पहले ही कह चुकी हैं कि मूल्यों में युग सापेक्ष दृष्टि का आना स्वाभाविक है। भारत में स्वाधीनता के पूर्व और पश्चात् जीवन मूल्यों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। यह हर युग की अपनी विशेषता होती है - पुराने जीवन मूल्यों के प्रति विद्रोह और नये जीवन मूल्यों की स्थापना की कोशिश। एक बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि व्यापक हित की अपेक्षा निज हित का अधिक महत्व दिये जानेवाले जीवन मूल्यों पर जीवन की सार्थकता कभी नहीं टिकती। भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार जीवन में मूल्यों की रिक्तता आती है तो वह जीवन जीना नहीं और कुछ करना होगा। डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान की राय में "लेकिन" स्पष्ट है कि व्यक्ति बिना जीवन मूल्यों के अधिक दिनों तक रह नहीं सकता। विकृतियाँ कभी जीवन मूल्य नहीं बनी हैं भले ही सारे राष्ट्र को उन्होंने अभिभूत कर दिया हो। व्यापक राष्ट्रीय लक्ष्य और विचारधारा के आधार पर व्यक्ति के चरित्र की अच्छाइयाँ ही, जो सारे राष्ट्र की अच्छाई का आधार बनती हैं - सदा जीवन मूल्य बना करती हैं और पुराने जीवन मूल्यों के प्रवाह क्रम में ही अपना नया विकास करती हैं। जीवन मूल्यों में कुछ काल सापेक्ष तत्व होते हैं,

---

1. अ. विनोबा भावे "जीवन और शिक्षण" - पृ:116
   आ. देवी प्रसाद गुप्त : "हिंदी महाकाव्य: सिद्धांत और मूल्यांकन" - पृ:23
2. डॉ. राधाकृष्णन पूर्व पश्चिम {भारतीय जीवन} - पृ:9

तो कुछ काल निरपेक्ष तत्व। युग परिवर्तन में काल सापेक्ष जीवन मूल्य अपनी महत्ता खो बैठते हैं, लेकिन काल निरपेक्ष जीवन मूल्य नये जीवन मूल्यों को विरासत कहते हैं।"[1] भारतीय संस्कृति दया, ममता, करूणा, प्रेम, सहानुभूति आदि मूल्यों को ही अधिक महत्ता देती है। यह तो हमने पहले ही स्पष्ट किया है कि भारतीय समाज के चारों ओर मूल्य विघटन हो रहा है। असंतोष और अशांति फैल रही है। पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में आने के फलस्वरूप भारतीय जनता की मानसिकता भी बिगड़ती जा रही है। अपनी मूल्यवान संस्कृति और सभ्यता को भूलकर भारतीय जनता विदेशी सभ्यता के पीछे भटक रही हैं। प्रतिपल ह्रासोन्मुख होनेवाली भारतीय संस्कृति की ओर संकेत करते हुए डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने कहा कि सत्य का दीवठ जाने कहाँ लुढक कर चला गया है, तप का तेल तो जाने कब का सूख गया है, दया की बाती जाने सदियों से पूरी नहीं गयी। §पूरी जाती तो इतने बडे पैमाने पर भाई-भाई में गलाकाट व्यवहार इतनी बड़ी दुःखान्तिका को जन्म कहाँ से दे पाता§ और क्षमा की शिक्षा तो उसकी ही नहीं, क्षमा के नाम पर खीस भरी दंत निपौरी उकास लाने की भोड़ी कोशिश करती रही है और अंधकार केवल पैठा ही नहीं, मुँहबाये सामने खड़ा है अब लील जाये कि तब लील जाये।"[2] भौतिक सुख सुविधाओं से भरा पूरा जीवन बितानेवाला व्यक्ति यह सत्य भूल जाता है कि मात्र भौतिक सुख सुविधाएँ व्यक्ति के जीवन को पूर्ण नहीं बनाती। जो व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं वे भी असंतुष्ट है। इसकी ओर संकेत करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र ने लिखा है - "पश्चिम भौतिक दृष्टि से दुःखी है एक अनवरत बेचैनी एक भटकाव, एक बिखराव उसे पीड़ित कर रहा है सामूहिक रूप से याने राष्ट्र के रूप में पश्चिम के देश पूरब के देशों से भले ही सफल हो, समृद्ध हो किन्तु वहाँ के व्यक्ति अलग-अलग रूप से मृत्यु की तलाश में है अमेरिका आदि समृद्ध देशों में समृद्धि के बीच रिक्तता, व्यर्थता, सूनापन अनुभव करना आत्मिक शक्ति के अभाव का सूचक है। भारत में आत्मिक शक्ति की कमी नहीं है। इसने सदियों से इसी संस्कार में जीना सीखा है।"[3] आध्यात्मिकता को छोड़कर भौतिकता की ओर अग्रसर होनेवाले मानव भी हृदयहीनता, स्वार्थ -

---

1. डॉ. राम गोपाल सिंह चौहान: "आधुनिक हिंदी साहित्य" - पृ:26
2. विद्यानिवास मिश्र : §सं§ - "आधुनिक निबंधावली" - पृ:125
3. डॉ. रामदरश मिश्र: "आधुनिक हिन्दी कविता: सर्जनात्मक संदर्भ" - पृ:17-18

परता और घोर व्यक्तिपरता से दु:खी एवं क्षुब्ध होकर रहता है। नरेन्द्र शर्मा ने मानव के इस दर्शन को एकांगी माना है। अपनी इस भावना को व्यक्त करते हुए श्री. नरेन्द्र शर्मा कहते हैं "मुझे आज भौतिक चिन्तन एकांगी लगता है। हमें अपने जीवन दर्शन को अधिक मानवी और व्यापक बनाना होगा, जिसमें भौतिक प्रसार तथा चेतना की गहराई, दोनों ही तत्व विद्यमान हों जिसमें प्रगति पक्ष की ओर से नवीन के निर्माण के हित तत्परता हो और परंपराओं को समझने और अपनाने की शक्ति भी।[1]

जब संवेदनशील लेखक इस सत्य से साक्षात्कार करता है कि अपने चारों ओर के परिवेश में व्यक्ति का व्यक्तित्व आध्यात्मिक रंकता की स्थिति में पहुँचकर विसंगतियों के जाल में उलझकर विघटित हो रहा है तो उस स्थिति से व्यक्ति को बचाना अपना फर्ज समझता है। मूल्यों को मरते हुए देखना वह कभी नहीं चाहता, जीवित होते हुए देखना चाहता है। मानव को प्रेम, श्रद्धा, कर्तव्य भावना, आस्था आदि उच्च मानव धर्मों पर चलने की प्रेरणा देता है। नैतिक पतन के कारण जिस अंधकूप में व्यक्ति गिर रहा है वहाँ आलोक प्रदान करने लायक पौराणिक आख्यान रूपी मशाल लेकर इन गुमराहियों का सही मार्ग निर्देश करता है।

5. <u>पुराण में नारी चेतना</u> :-

अ. <u>अनन्त प्रेरणा की संवाहक नारी</u> :-

संसार की सभी संस्कृतियों और धर्मों में नारी को ऊँचा स्थान प्रदान किया जा रहा है। सभी धर्मों ने इसे आदि शक्ति के रूप में देखा है और उसे जगत् माता का आदर भी दिया है। चन्द्रबली त्रिपाठी ने लिखा है "धर्म ग्रंथों में स्त्रियों को आदि शक्ति के नाना रूप में देखने की परंपरा हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिक अथवा लौकिक साहित्य में नारी का अभिचित्रण उसके कर्मठ जीवन, त्याग, उत्सर्ग आदि गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके गौरव के सर्वथा अनुरूप हुआ है।[2]

---

1. श्री. नरेन्द्र शर्मा "हंसमाला" - भूमिका - पृ:8
2. श्री. चन्द्रबली त्रिपाठी "भारतीय समाज में नारी-आदर्शों का विकास"-पृ:22

कर्मठ जीवन, त्याग और उत्सर्ग के लिए सीता का चरित्र अनूठी मिसाल है। अशोक वाटिका में सभी प्रकार की बाधाओं से घिरे रहते वक्त भी उनका सामना करने की शक्ति उसे अपने पतिव्रत धर्म से ही मिलती है। शत्रु के शिविर में रहते वक्त भी रावण के सामने अपने पतिदेव के उदात्त आदर्शों का निडर होकर यशोगान करनेवाली सीता[1] का निर्भीक व्यक्तित्व किसी भी युग की नारी को प्रेरणा प्रदान करनेवाला है।

नारी भूमि के समान त्याग संपन्न है। सबकुछ सहने की क्षमता उसमें निहित है। वह अपने पति की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपने को भी बलि देने के लिए तैयार है। मौन रूप से अपनी व्यथा को पीकर जीती है। सर्वदानन्द की सीता[2] ऐसे मौन उत्सर्ग करनेवाली भारतीय नारी का मूर्तिमान रूप है। नारी जाति के प्रति सहज संवेदना भी स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में अभिव्यक्त हुई है। एक सामान्य प्रजा जन के भीषण चारित्रिक दोषारोपण पर राम द्वारा निरपराध सीता का निर्वासन सर्वदानन्द की दृष्टि में बिलकुल अन्याय है। उसे कभी न्यायसंगत सिद्ध न करते। इस परित्याग को पुरुष की महत्वाकांक्षा का परिणाम ही मानते हैं। सब ने उसपर अविश्वास किया। उसने कभी उफ तक न की, किन्तु अंत में जब राम चाहते हैं कि सीता अपनी पवित्रता की शपथ ले और सदा के लिए उनके साथ रहे तो अन्दर पीड़ा से जलती है और राम के इस अविश्वास को सीता सह न सकी। भूमिजा की इस ग्लानियुक्त मनस्थिति को धरती भी न सह सकी और उसे सदा के लिए अपने अंग में स्थान देती है। भरी सभा में द्रौपदी का वस्त्र हरण तथा पत्नी को साथ बिठाकर युधिष्ठिर का द्यूत खेल[3] ये भी नारी के प्रति पुरुष का अत्याचार ही है।

पति के सम्मान को सुरक्षित रखनेवाली सती स्त्री के अपूर्व त्याग का दूसरा उदाहरण है। अपने ही घर में अपने पति का प्रत्यक्ष अपमान देखकर पति के प्रति उसके अनन्य सम्मान भाव को तीव्र चोट लगती है।

---

1. अशोकवन बन्दिनी तथा अन्य गीति नाट्य - पृ:9
2. भूमिजा - पृ:52
3. चक्रव्यूह - पृ:101

"मेरा घर है यह,
मेरा क्या
मैं तो पूजा में खड़ी होकर भी
दर्शक की तरह यज्ञ देखूँ तो
मेरी मर्यादा नहीं घटती
पर मेरे महादेव शंकर का स्थान
वहाँ
सर्वोपरि आसन के निकट रहे।"[1]

अहंकार और दर्प से उद्धत दक्ष की हठ की शिकार बनी सती का चरित्र भी किसी भी युग में नारी पर होनेवाली अत्याचार की कथा प्रस्तुत करती है। त्याग और अनुराग की मूर्ति बनी हुई, राजमहल में रहकर असह्य विरह-पीड़ा सहनेवाली उर्मिला अपने हृदय में लक्ष्मण की मूर्ति को स्थापित करती हुई दिन-रात जलती रहती है। अपने स्वामि के ध्यान में ही तन्मय हो चौदह वर्ष बितानेवाली उर्मिला का चरित्र भी पतिपरायणता का दृष्टान्त है।

पुरुष की सफलता और उन्नति के पीछे नारी के बलिदान और मौन उत्सर्ग छिपा हुआ है। पुरुष की खुशी के लिए कभी-कभी नारी को अपनी सारी खुशियाँ न्योछावर करनी पड़ती है। स्वयं सारी व्यथा का सहन करते हुए भी नारी पुरुष की उन्नति के मार्ग में कोई रुकावट उपस्थित करना नहीं चाहती। विवश होकर पाँचों पांडवों की पत्नी बनी पाँचाली का जो अन्तरसंघर्ष जानकी वल्लभ शास्त्री हमें सुनाते हैं उसमें इस आधुनिक युग की उस नारी की व्यथा-कथा भी गूँज उठती है जिसे परिस्थितियों से समझौता करके अपने मन की कामनाओं और अरमानों को मन में ही दबाकर पारिवारिक जीवन बिताना पड़ता है।[2] अपनी आँखों में पट्टी बाँधकर अंधता को खुद स्वीकार करनेवाली गाँधारी[3] का चरित्र भी पतिपरायणता के लिए ठोस प्रमाण है। "पहला राजा" की सुनीथा एक ममतामयी माँ का मूर्तिमान रूप है। संतानों के प्रति माँ के मन में कितनी गहरी ममता है यह

---

1. एक कंठ विषपाई - पृ:3।
2. तमसा - पृ:102
3. अपराजित - पृ:24

कुंती के चरित्र से भी स्पष्ट हो जाता है। कुन्ती ने अपनी जिस प्रथम-प्रसून - कर्ण - को बहा दिया उसी कर्ण के सामने पांडु पुत्रों के प्राण की भीख माँगी।[1] आत्म-ग्लानि से गलते वक्त भी उसे अपने पुत्रों की सुरक्षा की चिन्ता थी।

मातृत्व धरती की सबसे बड़ी विभूति है। यह दु:खपूर्ण और क्षतविक्षत धरातल का सर्वोत्तम वरदान है। अपनी संतान के प्रति माँ के हृदय में प्यार की जो धारा है वह कभी सूखनेवाली नहीं है। मातृ वात्सल्य की सीमा का कोई बन्धन नहीं। संतान-वियोग माता के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। पुत्र-वियोग से नारी अपना संतुलन किस प्रकार खो बैठती है, इसके लिए गाँधारी के चरित्र से बढ़कर अन्य कोई उदाहरण नहीं।[2]

अ. <u>नारी की विध्वंसकारी हठ</u> :-

स्वातंत्र्योत्तर नाटककार ने नारी चरित्र के घृणात्मक पक्ष का भी पर्दाफाश किया है। नारी की अहं चेतना और उसकी विध्वंसकारी हठ परिवार और समाज के सर्वनाश का कारण बन जाता है। इसी हठ के कारण कैकेई को युग-युग तक कलंकित रहना पड़ा।

"अंधों के पुत्र अंधे होते हैं" - यों कहकर भारी सभा में पाँचाली ने दुर्योधन का अपमान किया था। द्रौपदी का यह तीखा व्यंग्य एक महायुद्ध का बीज बो रहा था। दण्डकारण्य में राम तथा लक्ष्मण के द्वारा अपमानित शूर्पणखा का प्रतिशोधी मन जो कुचक्र रचता है उसमें उसके ही भाई रावण का सर्वनाश होता है।[3]

6. <u>पुराण और उदात्त जीवन दर्शन</u> :-

राम का व्यक्तित्व जीवन दर्शन के प्रेरक तत्वों से भरपूर है। भाई-भाई का प्रेम, दृढ़निश्चय, क्षमाशीलता, पुत्र-पिता का संबंध, कर्तव्यपालन, गुरु-

---

1. मेरे नाटक - पृ:192
2. अंधायुग - पृ:59
3. असुर सुन्दरी - पृ:3

शिष्य व्यवहार[1], राजा-प्रजा की शिष्टता आदि उसके चरित्र के प्रेरक तत्व हैं। आदर्श पुत्र राम नहीं चाहते कि उनके मोहवश पिता आसक्ति के भोगी बने। अतः पिता के वचन की रक्षा के लिए वे वन जाते हैं। टुच्ची और ओछी स्वार्थ पूर्ति के लिए पवित्र पारिवारिक रिश्तों का हनन करनेवाले आज के मानव के लिए श्रीराम जैसा पुत्र[2] भरत, लक्ष्मण जैसे भाई[3] काल्पनिक पात्र ही लगेंगे। लेकिन उनकी यह पितृ-भक्ति और भ्रातृ-भक्ति उनके चरित्र की स्थाई प्रकृति है।

जन हित के लिए तथा राष्ट्र में व्यवस्था एवं शांति बनाये रखने के लिए अपने सारे सुखों का निराकरण कर देनेवाला राम एक आदर्श राजा का प्रतीक है। वर्तमान मानव के रिक्त एवं आस्थाहीन हृदय को चरित्र एवं विश्वास का बल प्रदान कर उसमें लोक कल्याण, परहित तथा कर्तव्य निष्ठा की भावना को जागृत करने में राम जैसे पौराणिक पात्रों की मानवतावादी चेतना अनंत प्रेरणा देती ही रहेगी।

मानव हित के निमित्त अधिक से अनासक्ति सत्य के लिए एक सुन्दर मार्ग है। इस धरती को जीने योग्य बनाने के लिए कठिन साधना पथ को पार करना पड़ता है। बहुत से पौराणिक पात्र इस संदेश की घोषणा करते हैं। समाज सेवा, देश हित और मानव जाति के शुभ चिन्तन में निरत द्वापर युग की कृष्ण-कथा देश-काल की सीमाओं को तोड़कर मानव जीवन के कुछ शाश्वत प्रश्नों को उभारती है। कंस किसी व्यक्ति विशेष का बोधक न होकर किसी भी निरंकुश अत्याचारी और अन्यायी शासक का प्रतीक है तो कृष्ण इससे उद्धारकर्ता का प्रतीक है। आज के लेखक अपने युग की विषमय ज्वालाओं में जलकर निराश होनेवाले मानव को देखता है तुरंत ही उसे द्वापर के कर्मरत प्रभापुरुष कृष्ण की याद आ जाती है[4] तो इस पात्र को युगीन संदर्भ में अभिव्यक्त करती है। प्रभापुरुष कृष्ण ने अनासक्त होकर गोकुल की लीला भूमि को छोड़ा था और अनासक्त होकर इतिहास की

---

1. दशरथ नन्दन - पृ:80
2. चित्रकूट - पृ ॥
3. वही - पृ: 72, 103
4. तमसा - पृ:57

चुनौतियों को स्वीकार करते हुए उसकी गति को बदल दिया। "इतिहास की इस गति को बदलने की प्रेरणा से उस युग पुरुष ने सब की पीड़ाओं का वरण किया और उन सब ने भी उसे अपनी खंडता के लिए दोषी ठहराया। अश्वत्थामा युयुत्सु, संजय और गाँधारी से लेकर महाभारत के युद्ध में मरे एक-एक सैनिक तक ने समझा कि महायुद्ध का प्रणेता अथवा मूल कारण वही इतिहास पुरुष है जिसने उसकी वल्गाएँ अपने सुदृढ हाथों में थाम रखी है।"[1] सौ पुत्रों का विनाश महाभारत युद्ध का हेतु कुछ भी रहा हो परंतु कृष्ण ने सभी का कारण स्वयं को मानकर ही गाँधारी का शाप स्वीकार किया। धर्मवीर भारती ने इस प्रभापुरुष कृष्ण को संपूर्णता, महिमा और युगीन संदर्भ के साथ अपने नाटक में प्रस्तुत किया है।

आशावाद व्यक्ति को कर्मठता की ओर उन्मुख करता है। चार पुरुषार्थों में प्रमुख है कर्म। यह कर्मठता किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक करने में व्यक्ति को प्रेरित करता है। यदि पुरुषार्थ प्रबल हो तो किसी भी असंभव बात न होगा। यह पुरुषार्थ निजी स्वार्थ से परे हो, निष्काम भाव से हो तो अवश्य ही इसका परिणाम अच्छा ही होगा। किसी भी कार्य के पीछे उसका लक्ष्य अवश्य ही होना चाहिए। लक्ष्यहीन है तो फलहीन वृक्षों से युक्त उपवन के समान शुष्क एवं नीरस रहेगा। निस्वार्थ भाव, से परहित की मंगल के लिए पितरों की मुक्ति के लिए अडिग अटल होकर तपस्यारत भगीरथ[2] के माध्यम से जानकी वल्लभ शास्त्री ने कर्मठता का ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया है। उसके दृढ संकल्प के सामने कोई भी बाधाएँ उसे खलती नहीं। यही कर्मठता मिश्रजी ने अभिमन्यु में भी कर दिखाई है।[3] उसने अपनी पंद्रह वर्ष की आयु में, यह जानकर भी कि चक्रव्यूह भेदन में सफल न निकल जाय, अपने पिता से मिली शिक्षा को, जो अपूर्ण होने पर भी, प्रयोग में लाना चाहा। जगदीश चन्द्र माथुर ने उर्वी को कर्मठता का प्रेरक बिन्दु माना है, जिसने पृथु को धरती में छिपी पड़ी अपार संपदा का समुचित दोहन की प्रेरणा दी है, जो धरती उसमें नशा बनकर घुलमिल गई है।[4]

---

1. पुराख्यान और कविता - पृ:172
2. पाषाणी - पृ:24
3. चक्रव्यूह - पृ:24
4. पहला राजा - पृ:36, 39

7. पुराण और मिथ्याचरण की निन्दा :-

भारतीय संस्कृति तथा उसके आदर्शों के प्रति नाटककारों की निष्ठा उनके नाटकों को शाश्वत तथा पारंपरिक मानव मूल्यों से जोड़ देते हैं। अमरों के देश भारत में आसक्ति तथा त्याग, भोग तथा योग का बड़ा सानुपातिक समन्वय रहा है। आज के इस वैज्ञानिक युग में ~~नहीं~~ सभी क्षेत्रों में मनुष्य भौतिक प्रसार कर अपनी विजय दुंदुभी बजाना चाहता है। समझदार और संवेदनशील लेखक इससे बिलकुल खिन्न हो जाता है। समसामयिक विघटित मूल्यों की प्रतिष्ठा करना वह चाहता है। भौतिकता के अतिरेक की दुःखमय परिणति से आधुनिक मानव को अवगत कराने के लिए उनका परिचय ऐसे पौराणिक पात्रों से करा देते हैं जो क्षणिक सुख को अपनाने के कारण पतन के गर्त में सदा के लिए गिर गया था। वर्षों के कठिन परिश्रम से प्राप्त नहुष का इन्द्र पद इस क्षणिक लौकिक वासना के कारण ही नष्ट हुआ है।[1] तारा,[2] पाषाणी[3] आदि पात्र भी इस क्षणिक लौकिक आसक्ति के कारण अपने अपने पति के शाप का पात्र बन गई हैं। पुत्र में पति को खोजने की बेतुकी वासना द्वारिका के सर्वनाश का एक कारण बन गयी है। शूर्पणखा की अतृप्त काम-वासना समूचे असुर कुल के विनाश का मार्ग खोल देती है।[4]

जाहिर है, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने पौराणिक तत्वों को अपनाते हुए उन तत्वों की व्याख्या के लिए समसामयिक या युगीन मूल्यों को आत्मसात किया है[5]; साथ ही शाश्वत तथा पारंपरिक मूल्यों को भी नहीं छोड़ा है।

****

---

1. नहुष निपात पृ:9
2. मेरे नाटक - पृ:169
3. पाषाणी - पृ:101
4. असुर सुन्दरी - पृ:3
5. अ) समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ:25
   आ) सावित्री सिन्हा (सं) - हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास - पृ:137
   इ) साहित्य और आधुनिक युगबोध - पृ:163-164

अध्याय-7

उपसंहार - पौराणिक तत्वों की प्रासंगिकता

अध्याय-7

पौराणिक तत्वों की प्रासंगिकता

धर्म, दर्शन और जीवन से जुड़े पौराणिक तत्व किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर होते हैं। उनमें आये हुए आख्यान लोकमानस का आकर्षण बिन्दु होते हैं। किसी जाति की सामूहिक सुप्त आकांक्षाओं से संपृक्त होने के कारण पौराणिक तत्व प्रत्येक युग की रचनाओं को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। प्रत्येक देश के साहित्यकारों ने अपने विभिन्न आयामों तथा संदर्भों में पौराणिक तत्वों का प्रयोग किया है। भारतीय संस्कृति के महिमामय कोष रामायण, महाभारत और पुराणों में किसी भी युग की व्याख्या के लिए अनन्त संभावनाएँ भरी पड़ी हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के लिए इसका यथासंभव उपयोग भी किया है। हिन्दी साहित्य में आदिकाल से लेकर अत्याधुनिक काल तक कविता और नाटक ही अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा पौराणिक तत्वों से समृद्ध होते रहे हैं। प्रमुख भारतीय भाषाओं में नाट्य साहित्य की शुरुआत ही पौराणिक नाटकों से हुई है। एक ओर पौराणिक तत्वों को कथानक का आधार बनाकर नैतिक उपदेशात्मक पौराणिक नाटकों का सृजन किया है तो दूसरी ओर पौराणिक तत्वों का सांकेतिक प्रयोग कथ्य को अधिक प्रभावित बनाने और विचारपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से भी किया है। स्वतंत्रता पूर्व के हिन्दी के पौराणिक नाटक संख्या की दृष्टि से बहुत कम है। वैचारिक या सूक्ष्म स्तर पर नाटकों का उपयोग नहीं हुआ था। अपने प्राचीन विस्मृत चरित्रों का स्मरण दिलाकर देश के आत्म-गौरव को स्थापित करने का प्रयास मात्र ही उन्होंने किया था। पुराण की सामग्री इन नाटककारों के लिए साध्य रही। स्वतंत्रता - प्राप्ति के बाद इस स्थिति में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। पूर्ववर्ती परंपरा के पौराणिक नाटकों में सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना और आदर्शवादी नैतिकता का जो अतिरिक्त आग्रह था, उससे नाटक को एक हद तक मुक्ति मिल गयी। स्वातंत्र्योत्तर पौराणिक नाटकों के सृजन में दो पीढ़ियों के नाटककारों का प्रत्यक्ष योगदान

रहा है। प्रथम के अंन्तर्गत प्रसाद-युग या प्रसादोत्तर युग के नाटककार थे और आज़ादी के बाद की जड़ता की स्थिति को अपनी पारंपरिक रचनाओं के द्वारा तोड़ते रहे। इस खेमे के नाटककारों में जानकी वल्लभ शास्त्री, सीताराम चतुर्वेदी गोविन्द वल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट और पृथ्वीनाथ शर्मा आते हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे नाटककार आते हैं जिन्होंने नाटककार के रूप में अपना जीवन आज़ादी के बाद ही शुरू किया। इस खेमे में आनेवाले नाटककार हैं - धर्मवीर भारती, जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, सर्वदानन्द, दुष्यन्त - कुमार आदि। स्वातंत्र्योत्तर युग के नाटककार समसामयिक परिवेश और युग बोध के प्रति अत्यधिक संवेदनशील रहे। इस युग में आकर पौराणिक नाट्य लेखन की प्रचलित परंपरा में एक गंभीर प्रवृत्तिमूलक संशोधन हुआ। पुराण समकालीन समस्याओं का रूप और आकार देने के लिए केवल संदर्भ के रूप में प्रयुक्त किये गये। पौराणिक कथ्य को नई बुद्धिवादी दृष्टि प्रदान की। प्रतीकात्मक संदर्भों द्वारा आधुनिक भाव संवेदना ही रचनात्मक स्तर पर पौराणिक नाटकों को महत्वपूर्ण बनाता है। पुराण की प्रामाणिक सामग्री को उपेक्षित कर उन्होंने केवल अतीत द्वारा आज के मनुष्य की द्वन्द्वात्मक स्थिति को प्रामाणिकता प्रदान की है। नाटककारों ने जिन पौराणिक स्थितियों को चुना है वे समसामयिक यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के लिए बहुत सक्षम हैं। युद्ध की विभीषिका और उसकी दुःखमय परिणाम का जो चित्रण "अंधायुग", "एक कंठ विषपाई", "सूर्यमुख", "अपराजित", "चक्रव्यूह" आदि में अंकित है वह वर्तमान यथार्थ से जुड़ता है। महाभारतीय कृष्ण, कृष्ण पुत्र, युधिष्ठिर, अश्वत्थामा, दुर्योधन, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कर्ण, गुरु द्रोण, अभिमन्यु, कंस आदि का स्वरूप केवल महाभारतीय नहीं, उनकी भावना एक ही काल अथवा युग में नहीं बाँधी जा सकती। प्रतिहिंसा के अजगरी आज भी मानव को पीड़ित करती है। आज के युग में भी महाभारत जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषक पात्रों की कमी नहीं होती। व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित हो विनाशक युद्ध की दुंदुभी बजाकर भयंकर मानवीय संहार करनेवाले दक्ष जैसे शासकों की संख्या में आज भी श्रीवृद्धि हो रही है। दक्ष यज्ञ के विध्वंसो-परान्त सारी विभीषिकाओं को भोगनेवाली निरीह जनता का प्रतीक सर्वहत भी आज के प्रजातंत्रीय युग में मौजूद है। निरंकुश शासक अकुलक्षेम तंत्रकाल का न होकर

आज का भी है। वैदिक काल के मुनि-गण अत्री, शुक्राचार्य और गर्ग का षड्यंत्र और कूटनीति में आधुनिक जीवन संदर्भ की झलक ही मिलती है। पृथु पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और संघर्ष को प्रस्तुत करता है। हर युग में शासन निरंकुशता की चरम सीमा में पहुँचता है तो जनता के उद्धार के लिए युग पुरुष का अवतार होता है। युग पुरुष कृष्ण, कवष और हेरम्ब इस सत्य की ओर संकेत करते हैं।

मानव समाज के रुधिर में बहुत गहरी प्रविष्ट हो चुकी ऊँच - नीच और जाति-पाँति की भावना के शिकार बने कर्ण, एकलव्य, कवष आदि पात्र हमारे लिए आज भी चिर परिचित चेहरे हैं।

भौतिकता के अतिरेक के इस युग में क्षणिक सुख के आवेश में अपने कर्तव्य को भूलकर अनैतिक राहों में भटकते-भटकते खुद अपनी ज़िन्दगी को खतरे में डालनेवाले नहुष, शूर्पणखा, रावण, तारा, पाषाणी आदि भी पौराणिक पात्रों से अधिक आधुनिक लगते हैं। सीता पर लगाये गये लांछन तथा निर्वासन, पाँचाली का चीर-हरण, जूत की क्रीड़ा में पाँचाली को भी दाँव में रखना आदि संदर्भ नारी शोषण के अन्तहीन सिलसिले से जुड़ी हुई कड़ियाँ हैं।

अतः पौराणिक तत्वों का विश्लेषण करने से यह ज़ाहिर है कि पौराणिक तत्व अपनी कालजयी संवेदनाओं के कारण समसामयिक संदर्भों के साथ-साथ मानव जीवन के शाश्वत संदर्भों में ही व्याख्यायित और स्थापित हुए हैं। अतीत से वर्तमान को जोड़ने की जो प्रक्रिया स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने अपनायी है इसमें अतीत से लेकर वर्तमान तक के कालखंड को एक अविभाजित समय के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने अतीत के परिपार्श्व से एक क्षण को उपलब्ध किया, जो अतीत में भी था और वर्तमान में भी है। अतः वर्तमान के रूपायन के लिए केवल यथार्थवादी नाट्य शैली या सामाजिक कथानक आवश्यक नहीं, पौराणिक कथानकों से इस उद्देश्य की प्राप्ति सफलतापूर्वक हो सकती है। आधुनिकता की अभिव्यक्ति के लिए पौराणिक तत्व बिलकुल सार्थक है। अपने शाश्वत संदर्भों के कारण पौराणिक तत्व अपनी प्रासंगिकता सदा बनाये रखता है।

****

संदर्भ ग्रन्थ सूची - I

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
काव्य			
1. उर्मिला	बालकृष्ण शर्मा नवीन	उत्तरचन्द्र कपूर एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली	1968
2. उर्वशी	रामधारीसिंह दिनकर	चक्रवाल प्रकाशन, कुल्हाडिया हाऊस, पाटना-4	1961
3. कनुप्रिया		भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	1966
4. कर्ण	केदारनाथ मिश्र प्रभात	नवभारत प्रकाशन, दिल्ली-6	1968
5. कामायनी	जयशंकर प्रसाद	भारत भंडार, लीडर प्रेस, इलाहबाद	1974
6. कुरुक्षेत्र	रामधारीसिंह दिनकर	केदारनाथ सिंह, उदयाचल, पाटना-6	1976
7. जयभारत	मैथिलीशरण गुप्त	साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी	2014 (वि)
8. द्रौपदी	नरेन्द्र शर्मा	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	1967
9. द्वापर	मैथिलीशरण गुप्त	साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी	-
10. नहुष			2014 (वि)
11. पंचवटी			2022 (वि)
12. प्रियप्रवास	हरिऔध	द्वारकादास, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी - 1	-
13. प्रेत और छाया	इलाचन्द्र जोशी	-	द्वितीय संस्करण
14. मुक्तिपथ		-	तीसरा संस्करण
15. युद्ध	मैथिलीशरण गुप्त	साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी	2009 (वि)

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
16. रश्मिरथी	रामधारीसिंह दिनकर	उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पाटना-4	1960
17. रामराज्य	बलदेव प्रसाद मिश्र	हिन्दी साहित्य भण्डार, गंगा प्रसाद रोड, लखनऊ	2017 (सं)
18. राम की शक्ति पूजा	सूर्यकान्त त्रिपाठी-निराला	(अनामिका), भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग	1963
19. वन वैभव	मैथिलीशरण गुप्त	साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी	2004 (वि)
20. संशय की एक रात	नरेश मेहता	पुस्तकायन, इलाहबाद	1973
21. साकेत	मैथिलीशरण गुप्त	साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी	2013 (वि)
22. सेनापति कर्ण	लक्ष्मीनारायण मिश्र	किताब महल, इलाहबाद	1958
23. हंसमाला	नरेन्द्र शर्मा	भारती भंडार, लीड़र प्रेस प्रयाग	2003 (वि)
24. हिडिम्बा	मैथिलीशरण गुप्त	साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी	2013 (वि)

<u>नाटक</u>

1. अंधायुग	धर्मवीर भारती	किताब महल, इलाहबाद	1978 अष्टम संस्कर
2. अपराजित	लक्ष्मीनारायण मिश्र	कौशांबी प्रकाशन, दरिया-गंज, इलाहबाद - 6	-
3. अशोकवन-बंदिनी तथा अन्य गीति-नाट्य (संग्रह)	उदयशंकर भट्ट	भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली	1959
4. असुर सुन्दरी		आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली-6	1972
5. उर्मिला	पृथ्वीनाथ शर्मा		1960

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
6. एक कंठ विषपाई	दुष्यंत कुमार	लोकभारती प्रकाशन, महात्मा-गाँधी मार्ग, इलाहबाद	1976 तृतीय संस्करण
7. कलंकी	लक्ष्मीनारायण लाल	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1969
8. चक्रव्यूह	लक्ष्मीनारायण मिश्र	कौशांबी प्रकाशन, इलाहबाद-6	1974
9. चित्रकूट		रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहबाद - 2	1972
10. तमसा (संग्रह)	जानकीवल्लभ शास्त्री	राजकमल प्रकाशन, फौज बाज़ार दिल्ली - 6	1969
11. दशरथ नन्दन	जगदीश चन्द्र माथुर	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली - 2	1974
12. नहुषनिपात	उदयशंकर भट्ट	आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6	1961
13. पहला राजा	जगदीश चन्द्र माथुर	राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली - 2	1980 पाँचवाँ संस्करण
14. पाषाणी (संग्रह)	जानकीवल्लभ शास्त्री	लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद	1967
15. भूमिजा	सर्वदानन्द	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1960
16. मेरे नाटक (संग्रह)	भगवतीचरण वर्मा	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि. 8 फौज बाज़ार, दिल्ली-6	1972
17. ययाति	गोविंदवल्लभ पंत	आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली	1965
18. शबरी	सीताराम चतुर्वेदी	प्रथम संस्करण	2009 (सं)
19. सूर्यमुख	लक्ष्मीनारायण लाल	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1968

संदर्भ ग्रन्थ सूची-।।

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
हिन्दी			
1. अंधायुग: एक सृजनात्मक उपलब्धि	सुरेश गौतम	साहित्य प्रकाशन, दिल्ली	1973
2. आजकल का हिन्दी नाटक: प्रगति और प्रभाव	दशरथ ओझा	राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6	1984
3. आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और सृष्टि	रामदरश मिश्र	अभिनव प्रकाशन, दिल्ली	1975
4. आज के हिन्दी रंग-नाटक: परिवेश और परिदृश्य	जयदेव तनेजा	तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली-2	1980
5. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य	इंद्रनाथ मदान	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6	1973
6. आधुनिक निबंधावली	विद्यानिवास-मिश्र	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	1976
7. आधुनिक बोध	रामधारी सिंह दिनकर	पंजाबी पुस्तक भण्डार, दिल्ली	1973
8. आधुनिक युग में धर्म	डॉ. एस. राधाकृष्णन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	1968
9. आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी	भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहबाद	2018 (सं)
10. आधुनिक हिन्दी कविता: सर्जनात्मक सन्दर्भ	रामदरश मिश्र	इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली	1986
11. आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक	नरनारायण राय	भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली	1979

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
12. आधुनिक हिंदी साहित्य	डॉ. नगेन्द्र	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	-
13. आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास	डॉ. श्रीकृष्ण लाल	हिंदी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग	1965
14. आलोचना और आलोचना	देवीशंकर अवस्थी	प्रज्ञा प्रकाशन, कानपूर	1961
15. आस्वादन के धरातल	धनंजय वर्मा	विद्या प्रकाशन मंदिर, दरियागंज, दिल्ली-6	1969
16. कामायनी मॅलयांकन और मूल्यांकन	इंद्रनाथ मदान	नीलाभ प्रकाशन, इलाहबाद	1969
17. कृतिकार लक्ष्मी-नारायण लाल	रघुवंश (सं)	लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली	1979
18. त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना	सुरेश गौतम एण्ड वीणा गौतम	रूपान्तर प्रकाशन, नई दिल्ली	1976
19. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास	डॉ. लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय	राजपाल एंड संस, दिल्ली	1973
20. दुष्यंतकुमार और उनका साहित्य	डॉ. हरिचरण शर्मा चिंतक	प्रमोद प्रकाशन, नई दिल्ली	1982
21. नई कविता की प्रबंध चेतना	महावीर सिंह चौहान (सं)	गिरिनार प्रकाशन, मैहसाना उत्तर गुजरात	1981
22. नई कविता के प्रतिमान	लक्ष्मीकांत वर्मा	भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहबाद	2014 (वि)
23. नई कहानी की भूमिका	कमलेश्वर	शब्दकार, तुर्कमान गेट, दिल्ली	1978
24. नाटककार उदय-शंकर भट्ट	मनोरमा शर्मा	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6	1963

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
25. नाटककार जगदीश-चन्द्र माथुर	गोविंद चातक	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली	1973
26. नाटककार लक्ष्मी-नारायण लाल की नाट्य साधना	नरनारायण राय	सन्मार्ग प्रकाशन, नई दिल्ली	1979
27. नाट्य निबंध	दशरथ ओझा	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1972
28. निराला आत्महंता आस्था	दूधनाथ सिंह	नीला प्रकाशन, इलाहबाद	1972
29. पुराख्यन और कविता	लक्ष्मीनारायण शर्मा	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1980
30. प्रबंध काव्यों के प्रमुख पात्र और उनकी प्रवृत्तियाँ मैथिलीशरण गुप्त	राधेश्याम शर्मा	मंगल प्रकाशन, जयपूर	1975
31. प्रियप्रवास में काव्य संस्कृति और दर्शन	द्वारिका प्रसाद-सक्सेना	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1960
32. बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक	डॉ. ओमप्रकाश - सारस्वत	मंथन पब्लिकेशन्स, मॉडल टाऊन, रोहतक-1	1983
33. बीसवीं शताब्दि के नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन	लजपतराय गुप्त	कल्पना प्रकाशन, मेरट	1974
34. भारत की संस्कृति और कला	राधाकमल मुकरजी	राजपाल एन्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली	
35. भारती का काव्य	डॉ. रघुवंश	मेकमिलन इंडिया लिमिटेड	1980
36. भारती नाट्य साहित्य	डॉ. नगेन्द्र	एस. चंद एन्ड कंपनी, नई दिल्ली	1968

	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
48.	समकालीन हिन्दी नाटक कथ्य चेतना	डॉ. चन्द्रशेखर	आत्माराम एन्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6	1982
49.	समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक	रमेश गौतम	नचिकेता प्रकाशन, पहाड़ गंज, नई दिल्ली - 32	1984
50.	समसामयिक हिंदी नाटकों में चरित्र सृष्टि	जयदेव तनेजा	सामयिक प्रकाशन, दिल्ली	1971
51.	साकेत एक अध्ययन	डॉ. नगेन्द्र	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1970
52.	सातवें दशक के प्रतीकात्मक नाटक	रमेश गौतम	राजेश प्रकाशन, दिल्ली-51	1977
53.	साहित्य और आधुनिक युगबोध	देवेंद्र इस्सर	जयकृष्ण अग्रवाल, कचहरी रोड़, अजमेर	1973
54.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक: मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में	श्रीमती. रीता कुमार	विभु प्रकाशन, साहिबाबाद	1980
55.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक: विचार तत्व	अवधेश चंद्रगुप्त	नीरज बुक सेंटर, दिल्ली	1984
56.	सिलसिला	मधुरेश	प्रकाश संस्थान, दिल्ली	1979
57.	हिंदी और असमी के पौराणिक नाटक	धर्मदेव तिवारी शास्त्री	प्रगति प्रकाशन, आगरा-3	1979
58.	हिन्दी गीति-नाट्य: सिद्धांत और समीक्षा	शिवशंकर-कटारे		1974

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
59. हिंदी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. रणधीर उपाध्याय	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली-7	1966
60. हिंदी के पौराणिक नाटक	देवर्षि सनाढ्य	विद्याभवन, वाराणसी	1961
61. हिंदी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत	शशिप्रभा शास्त्री	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6	1973
62. हिंदी नाटक और रंगमंच:पहचान और परख	इंद्रनाथ मदान	लिपि प्रकाशन, दिल्ली	1975
63. हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंग यात्रा	डॉ. चन्द्रशेखर	आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली	1982
64. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास	डॉ. दशरथ ओझा	नाशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	
65. हिन्दी नाटक पुनर्कथन और दिशाएँ	विजयकांत धर दुबे (सं)	अनुभव प्रकाशन, कानपुर	1986
66. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	डॉ. सोमनाथ गुप्त	हिंदी भवन, इलाहबाद	1958
67. हिंदी नाटकों में नैतिक चेतना का विकास	रामाश्रय रत्नेश	विद्या विहार, अर्चना-नगर, कानपुर-3	
68. हिंदी नाट्य: प्रयोग के संदर्भ में	डॉ. सुषम बेदी	पराग प्रकाशन, दिल्ली-32	1984
69. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (सं)	सावित्री सिन्हा (सं)	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (एकादश भाग)	2029 (सं)

पत्र - पत्रिकाएँ

1. "आधार" - भारतीय रंगमंच विशेषांक
2. "दिनमान" - 7 सितंबर 1969
3. "नटरंग" - अंक 13, जनवरी-मार्च 1970
4. नया प्रतीक मई 1976
5. "भाषा" त्रैमासिक - सितम्बर 1980
6. "वातायन" - अप्रैल - 1967
7. 'धर्मयुग' - जुलाई 1968

****

संस्कृत

1. अमरकोष

2. उत्तर रामचरितम्

3. ऋग्वेद

4. छन्दोग्य उपनिषद्

5. निरुक्त

6. पद्मकोष

7. पद्म पुराण

8. बृहदारण्यक उपनिषद्

9. ब्रह्म वैवर्त पुराण

10. ब्रह्माण्ड पुराण

11. मत्स्य पुराण

12. शतपथ ब्राह्मण

13. सत्यार्थ प्रकाश

14. विश्व विज्ञानकोश (मलयालम)

==========

English

1.	A Critical study of Bhagat Purana	Dr.T.S.Rukmini	Chowkamba Publication Ist Edition 1970
2.	Dictionary of Classical Mythology	I.E.Zimmerman	Harper & Row Publishers, Yew York, Evanstan 1964
3.	Evolution of Indian Culture	B.N. Luniya	---- Vth Edition 1970
4.	Gundriesse	Carl Marx	Harmondsworth 1973
5.	Indian Epic Poetry	Monier Williams	William & Norgate, London 1863
6.	Indian History & Culture	J.Faste & I.R.Mehta	Pitambar Bood Depot, Karol Bagh, Ned Delhi --
7.	Myth and Reality	Mircea	---- --
8.	The Cultural Heritage of India.	Sunithkumar Chaterji (ed) Vol.II-	---- --
9.	**The Cultural Heritage** of India.	S.C.Banerji(ed) Vol.V	---- IInd Edition 1978
10.	The Discovery of India	Jawaharlal Nehru	46l,Asha Publishing House, Bombay 1961
11.	The Foundation of Indian Culture	Sri.Aurobindo	---- Reprint 1968
12.	Theory of Literature	Thomas Warten	---- ---
13.	World Drama	John Gassmer & Edward Quinn	---- ---

Publications:

1. Encyclopedia Britanica - Vol.VII
2. New Popular Encyclopedia - Charles Anadal (Ed).
3. IndianExpress (Daily) - Oct'13, 1988.